अक्षरविज्ञान

अर्थात्

मनुष्य-भाषा का मार्मिक चित्र।

लेखक

पण्डित रघुनन्दन शर्मा।

सम्वत् १९९५ वि० । सन् १९३८ ई० ।

ओ३म्

अक्षरविज्ञान

अर्थात्

मनुष्य-भाषा का मार्मिक चित्र।

लेखक

वैदिक सम्पत्ति सम्पादक, साहित्य भूषण,

पण्डित रघुनन्दन शर्मा।

प्रकाशक

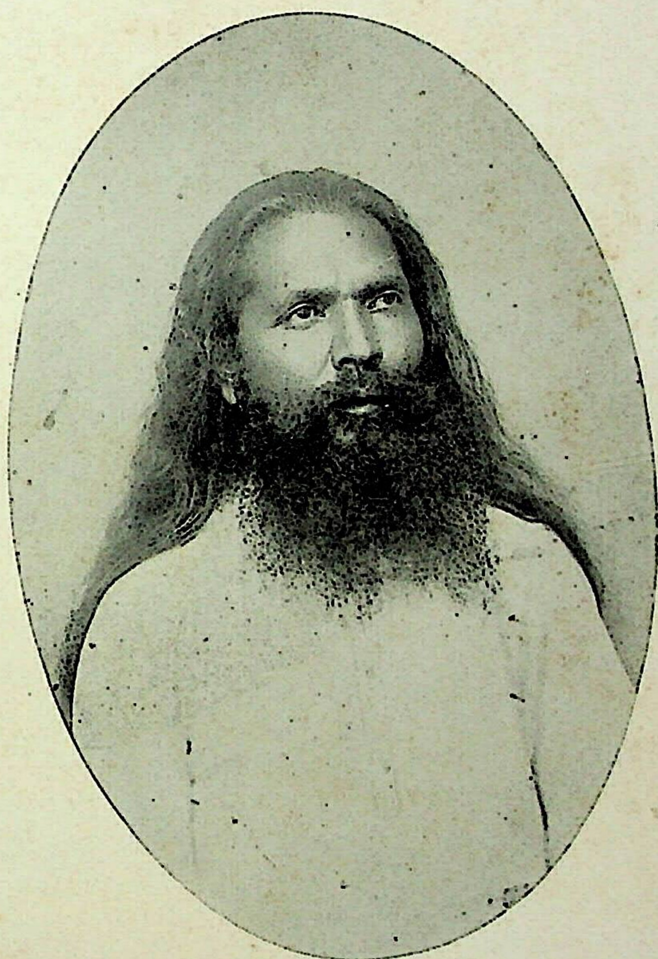
श्री शूरजी वल्लभदास वर्मा,

कच्छकेसल, सेन्डहर्स्ट ब्रिज, बम्बई ४।

सम्वत् १९९५ वि०। सन् १९३८ ई०।

मुद्रक—
जॉब प्रेस, कानपुर ।

पुस्तक मिलने का पता—
श्री शूरजी वल्लभदास वर्मा,
कच्छकेसल, सेन्डहर्स्ट ब्रिज, बम्बई ४ ।



स्व० पं० रघुनन्दनशर्मा, साहित्य-भूषण



प्रकाशक का निवेदन ।

अपने परम मित्र स्वर्गस्थ पण्डित रघुनन्दन शर्मा के अक्षर-विज्ञान नामक पुस्तक का यह दूसरा संस्करण हम बड़ी प्रसन्नतापूर्वक सर्वसाधारण के लाभार्थ आज प्रकाशित कर रहे हैं। यह पुस्तक भारतवर्ष के लिये नूतन, आवश्यक और एक बड़े गम्भीर, गहन और सूक्ष्म विषय के भावों को दर्शानेवाला है। इसमें वर्णित विषयों को लेखक महोदय ने अपने 'वैदिक सम्पत्ति' नामक ग्रन्थ में अन्य अनेकों विषयों के साथ अधिक विस्तारपूर्वक लिखा है, तथापि परमात्मा के अस्तित्व में शंका करने वाले महानुभावों के कल्पित कुतर्कों को दूर करने के लिये इस छोटे पुस्तक में ऐसे जटिल विषय को उत्तम, सरल और क्रमबद्ध रीति से अनेकों प्रमाण और तर्क-वितर्कों के साथ सम्पादित करने में भी उनको पूर्ण सफलता प्राप्त हुई है।

इस पुस्तक के प्रथम संस्करण को पढ़कर आचार्य महावीरप्रसाद जी द्विवेदी आदि कई विद्वानों ने इसकी मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की थी। यही कारण है कि जो हमको इसका यह दूसरा संस्करण ऐसे गूढ़ विषयों के पढ़ने वाले विद्वानों की सेवार्थ सप्रेम प्रकाशित करने की प्रेरणा कर रहा है।

लेखक महोदय ने अपने जीवनकाल में प्रदर्शित किये हुए विचारों को ध्यान में रखकर उनके जामातृ पण्डित यदुनाथ अवस्थी ने इस दूसरे संस्करण को कुछ संशोधित और परिवर्धित किया है। जो कुछ संशोधन और परिवर्धन किया गया है वह सब स्वर्गस्थ शर्माजी के विचारानुसार शुद्धि, सौन्दर्य, और

सरलता की दृष्टि से ही किया गया है, अपनी तरफ़ से निमक मिर्च मिलाने के हिसाब से नहीं। इस प्रकार इस संस्करण को यथासाध्य अच्छा बनाने का प्रयत्न किया गया है। परन्तु इस कार्य में हमको कहाँ तक सफलता प्राप्त हुई है इसका निर्णय पाठकों की राय पर ही निर्भर है।

आशा है कि हमारे देश के विद्वान इस पुस्तक में वर्णित मुख्य विषय की अधिक ढूंढ़-तलाश और छानबीन करके संसार में फैले हुए भाषा और लिपि विषयक अनेकों भ्रमों को दूर करने में समर्थ होंगे।

बम्बई,
ता० २० जून सन् १९३८ ई०

शूरजी वल्लभदास वर्मा।

ओ३म्

प्रस्तावना।

हिन्दू, पारसी, यहूदी, ईसाई और मुसलमान आदि न जानें कब से मानते चले आते हैं कि सृष्टि की आदि में परमात्मा ने मनुष्यों को ज्ञान और भाषा अवश्य दी। यदि ज्ञान न देता तो अकस्मात् अज्ञात स्थान में पहुँचकर आंख खुलते ही सूर्य, चन्द्र, नदी, पहाड़, अग्नि, जल, बिजली, मेघ-गर्जन, बन, खोह, सिंह, सर्प आदि अपरिचित् और भयानक दृश्यों को देखकर एक नवागत मनुष्य घबराकर पागल हो जाता और ऊँचा, खाली चढ़ाव, उतार तथा शीतोष्ण का मारा बेताब होकर गिर जाता और प्यास का मारा तो घण्टे ही दो घण्टे में मर जाता। क्योंकि उसे पानी और प्यास के सम्बन्ध का ज्ञान तथा परिचय तो है ही नहीं। उसे यह ज्ञान तो हुआ ही नहीं कि गले में और पेट में जो प्यास से जलन हो रही है वह सामने भरे हुए स्वच्छ तरल पदार्थ पानी से शान्त हो जायगी। यही हाल भूख का भी समझिये।

अलिफ़लैला का अब्बुलहसन जो ख़लीफा बुग़दाद के द्वारा बेहोश करके रात के समय राजभवन में लाया गया था सुबह उठते ही घबरा गया था। वह उस समय और भी घबरा गया था जब उसने दो तीन दिन के बाद, बादशाह हो चुकने पर, फिर उसी अपने घर की टूटी खाट पर आंख खोली थी और सोच रहा था कि यह हालत सत्य है या पहिले की, मैं अब्बुलहसन हूँ या ख़लीफा बुग़दाद। ऐसी ही दलीलों और अनुभवों के कारण एक दीर्घकाल से विश्वास हो रहा है कि आदि सृष्टि में ज्ञान अवश्य मिला और ज्ञान मिला तो भाषा अवश्य ही मिली। क्योंकि भाषा के द्वारा ही ज्ञान मिलता है और बिना भाषा के ज्ञान का उपयोग हो ही नहीं सकता।

यद्यपि इस कुदरती ज्ञान और भाषा में समय समय पर मनुष्यों ने अपनी चटनी पापड़ मिला मिलाकर नाना प्रकार के पन्थ, मज़हब और मतों की सृष्टि की और किसी न किसी ईश्वरी ज्ञान अर्थात् इलहाम का सहारा भी लिया, किन्तु हमेशा हर पंथप्रवर्तक यह भी कहता गया कि मैं कोई नया मत प्रकाशित नहीं करता। पुराने मतों का ही सुधार करता हूँ।

शुरू से आज तक के ऐसे बड़े बड़े सुधारकों की जब हम एक शृङ्खला बनाते हैं तो हज़रत मुहम्मद साहब को ईसा, मूसा और ज़रदुश्त के मत का अनुयायी पाते हैं। हज़रत ईसा को मूसा और बौद्ध का अनुयायी पाते हैं। मूसा ज़रदुश्त का और ज़रदुश्त तथा बौद्ध वेदों के गुणानुवाद गाते हैं।

वेदों के मानने वाले वैदिक ऋषि जिनको ऐतिहासिक दृष्टि से सारे संसार ने सब विद्याओं का प्रकाशक माना है अपनी हर पुस्तक में, अपनी प्रत्येक रचना में, बात बात में, श्वास श्वास में वेदों का ही दम भरते हैं। वे वेदों को सारे ज्ञान का भण्डार बतलाते हैं और कहते हैं कि हमने जो कुछ सीखा है इन्हीं से सीखा है। वे बड़े ज़ोर से दावे के साथ साबित करते हैं कि 'बुद्धिपूर्वावाक् प्रकृतिर्वेदे' अर्थात् वेदों की वाक्य-रचना बुद्धिपूर्वक अर्थात् ज्ञानयुक्त है। उसमें ऊटपटांग कोई बात नहीं है। ऋषियों का यह कथन कल्पना नहीं है। वेदों की भाषा बहुत पुरानी होने पर भी, उसकी शैली और उसका क्रम नष्ट हो जाने पर भी आज वेदों के अनेक स्थल बड़े सरल भाव से बड़ी-बड़ी विज्ञान की बातें, बड़े-बड़े सामाजिक नियम, बड़े-बड़े राजनैतिक विचार, ब्रह्मचर्य की शिक्षा, संस्कार, वर्णाश्रम धर्म की गूढ़ कुंजियाँ, वैद्यक, ज्योतिष, भूगर्भ, रसायन और रथ, जहाज़, विमान आदि की चर्चा उत्तम रीति से करते हैं।

ऋषि लोग वेदों को सब विद्याओं का भण्डार कहते हुए उन्हें ईश्वरदत्त बतलाते हैं। वे कहते हैं कि वेद ईश्वर का श्वास है। यह सिद्धान्त अखण्ड रूप से न जानें कब से माना जाता हुआ आज तक उसी प्रकार माना जाता है।

कुछ लोगों को छोड़कर शेष सारा संसार इलहाम अर्थात् ईश्वरी ज्ञान का अब तक क़ायल है।

यद्यपि पूर्व समय में भी कभी कभी किसी किसी स्वच्छन्द विचार विद्वान् ने इस बात से इनकार किया है, इस विश्वास का विरोध किया है, इसके विरुद्ध पुस्तकें लिखी हैं और वेद, ईश्वर, पुनर्जन्म आदि सिद्धान्तों का तिरस्कार किया है, तथापि दर्शन और विज्ञान का सहारा लेकर विद्वानों ने उनका उसी समय खण्डन किया है और फिर उसी पुरानी थाती का जीर्णोद्धार करके क़ायम रक्खा है।

यद्यपि इस प्रकार के और इससे भी अधिक भयानक सैकड़ों हमले हुए, पंथ, मत, सम्प्रदाय भी हज़ारों चले, किन्तु इस प्रबल ऐतिहासिक और दार्शनिक घटना को कि 'बिना सिखाए ज्ञान नहीं आता, इसलिए आदि सृष्टि में ईश्वर ने ज्ञान दिया' किसी न किसी रूप में सब मानते रहे और इलहाम के नाम से इसी सिद्धान्त की नक़ल करते रहे, जिसका परिणाम कुरान, बाइबिल, गाथा और ग्रंथसाहब आदि हैं। मतलब यह कि आदि सृष्टि से लेकर आज तक यह सिद्धान्त जीता जागता, गर्जता तर्जता हुआ संसार में हिमालय की तरह अटल रहा और सर्व धर्मों के तारतम्य, कारणकार्य और ऐतिहासिक क्रम से वेदधर्म ही सबसे प्राचीन और सब धर्मों का पिता तथा वेद भाषा ही सब भाषाओं की जननी साबित होती रही। गत शताब्दी के बहु भाषाभाषी प्रोफेसर मैक्समूलर ने भी अपने Chips From A German Workshop नामी ग्रंथ में लिखा है कि 'संसार की लाइब्रेरी में वेद सबसे प्राचीन पुस्तक है'। यही नहीं, किन्तु प्रोफेसर मैक्समूलर संसार की भाषाओं के अनेक भेद करके सब भेदों को दो बड़े भागों में बाँटते हैं और कहते हैं कि संसार की सब भाषायें आर्य और सेमिटिक दो महाभागों की शाखाप्रशाखा हैं। इन दोनों में से आर्य भाषान्तर्गत संस्कृत भाषा को बड़ी ही उत्तम और परिपूर्ण बतलाया है।

अब मिश्र की भाषा ने सिद्ध कर दिया है कि आर्य और सेमिटिक भिन्न भिन्न भाषाएँ नहीं, किन्तु किसी एक ही मूल भाषा की दो शाखाएँ हैं।

मिश्र भाषा में सब धातु आर्य भाषा की प्रकृति के हैं, किन्तु व्याकरण रचना सेमिटिक जैसी है। सेमिटिक भाषा की प्रतिनिधि अर्बी का व्याकरण संस्कृत से मिलता है और समस्त आर्य भाषायें संस्कृत भाषा से निकली हैं, जैसा कि इस पुस्तक के दूसरे प्रकरण से ज्ञात होगा। संस्कृत भाषा वेद भाषा से निकली है। अतः संसार की सब भाषायें वेद भाषा की ही शाखाप्रशाखा हैं। तात्पर्य यह कि जितनी भाषायें हैं सब का मूल वेदभाषा है। इसको विद्वानों ने अनेक बार सिद्ध किया है और विद्वानों ने ही मान भी लिया है। किन्तु भाषा के साथ अर्थ का क्या सम्बन्ध है इस प्रश्न ने हमें इस पुस्तक के लिखने की प्रेरणा की है।

वेदभाषा वैदिक शब्दों से बनी है और वैदिक शब्द अपनी अपनी धातुओं से बने हैं। धातु सब अक्षरों से बने हैं। अब प्रश्न यह है कि एक, दो, ढाई या तीन अक्षरों के योगरूप एक ध्वनि (जिसे धातु कहते हैं) का अमुक अर्थ क्यों किया जाता है। क्यों पा का अर्थ रक्षणे किया जाता है और क्यों चदि का अर्थ अह्लादे बतलाया जाता है? यह प्रश्न मुझे अनेक दिनों से हैरान किये हुए था। मैं सीधेसादे विश्वास के कारण जानता था कि वेद ईश्वरी ज्ञान है और उन वेदों की धातुओं का अर्थ किसी न किसी दिन अवश्य वैज्ञानिक रीति से सिद्ध होगा। किन्तु थोड़े दिन के बाद मैंने प्रोफेसर मैक्समूलर के ग्रंथ में यह पढ़ा कि 'किस प्रकार शब्द विचार को प्रकट करता है, किस प्रकार धातु विचारों के चिह्न हो जाते हैं, कैसे मा धातु नापने अर्थ में ली गई, मन धातु विचार अर्थ में, गा जाने, स्था ठहरने, दा देने, मर मरने, चर चलने और कर करने अर्थ में माना गया*'। इसके आगे आप कहते हैं कि 'इस प्रश्न का उत्तर न तो आज तक किसी ने दिया और न दिया जा सकेगा'। मेरा कुतूहल बढ़ गया। मैं बारीकी से इसे सोचने लगा। संस्कृत साहित्य की गूढ़ गढ़न का अवलोकन करने लगा। कुछ दिन के बाद मुझे जान पड़ा कि मैक्समूलर साहब ने जल्दी की। यदि वे धैर्य के साथ संस्कृत साहित्य का

---

* Lecture on the Science of Language, Vol. 1, P. 82.

अवलोकन करते, तो आपसे आप सब धातुओं के अर्थों का सम्बन्ध उन्हें मालूम हो जाता। वे जान जाते कि संस्कृत में एक एक अक्षर का भी अर्थ विद्यमान है। किन्तु उन्होंने एकाक्षर अर्थ पर कभी विचार ही नहीं किया। नहीं तो सब उलझन सुलझ जाती और धातुओं का वैज्ञानिक अर्थ उन्हें ज्ञात हो जाता। क्योंकि संस्कृत में प्रायः सभी मूलाक्षरों का अर्थ प्रचलित है। यथा, अ—नहीं, अभाव (अव्यय)। आ—भली भाँति, कुल। ई—गति। उ—और, वह। ऋ—गति। ऌ—गति। क—बाँधना, रोकना, प्रश्न करना (कः, किं, का)। ख—आकाश, पोल। ग—गति। च—पुनः। ज—उत्पन्न होना। झ—नाश होना। ड—करना (डुकृञ्)। त—पार। दा—देना। धा—धारण करना। न—नहीं। पा—रक्षा करना। भा—प्रकाश करना। मा—नापना। य—जो। रा—देना। ला—लेना। व—गति। स—शब्द करना, साथ होना और ह—निश्चय आदि। इन्हीं सब मूलाक्षरों से धातु बने हैं। यदि इन अक्षरों का वैज्ञानिक रीति से अर्थ सिद्ध हो जाय, तो आप ही आप समस्त धातुओं का अर्थ सिद्ध हो जायगा। क्योंकि सब धातु तो इन्हीं से बने हैं। धातु क्या भाषा का उपादान ही ये अक्षर हैं।

मेरा विश्वास है कि भाषाओं के ही शब्द नहीं, किन्तु जो कुछ शब्दमात्र होता है सब वैदिक ६४ अक्षरों के अन्तर्गत है। पशु, पक्षियों की चिल्लाहट अथवा थाली, लोटा, पत्थर, लकड़ी आदि की आवाजें, या मृदङ्ग, सितार आदि की ध्वनियाँ सब इन्हीं ६४ अक्षरों के ही अन्तर्गत हैं। गौ के शब्द को वां और बिल्ली के शब्द को म्यूँ तथा छोटी छोटी चिड़ियों के शब्द को चूँ चूँ कहना इस बात का बड़ा भारी प्रमाण है कि गाय, बिल्ली और चिड़ियों के मुख से वे शब्द निकल रहे हैं। इसी प्रकार ठन-ठन वा खट-खट की आवाजें भी अपने शब्दों अर्थात् उन अक्षरों के ही कारण ठन-ठन वा खट-खट सुनाई पड़ती हैं।

मुझे इस बात पर उस दिन विश्वास हुआ था जिस दिन मैंने देखा कि मेरे उस्ताद जो मुझे मृदङ्ग सिखलाते थे किट तक और तिर कट का भेद दूर

से मालूम कर लेते थे। उन्हें तिरकट में किट तक की ग़लती तुरन्त मालूम हो जाती थी।

जब हम सारे विश्व के शब्दों में वही ६४ अक्षरों को ही फैला हुआ पाते हैं तो विवश होकर विचार करना पड़ता है कि इन शब्दों के साथ वैज्ञानिक रीति से कुछ अर्थ का भी सम्बन्ध होगा। प्रत्येक आवाज़ के उच्चारण से मन में जो कई रसों का प्रादुर्भाव होता है इसका भी कोई कारण अवश्य है। क्यों किसी अक्षर की ध्वनि में मधुरता और किसी में कठोरता है? क्यों टवर्ग कठोर और सकार मकार कोमल और सुकुमार मालूम होते हैं? क्यों कोई शब्द भयदायक और कोई करुणामय सुनाई पड़ता है? क्यों कौवे के कायँ-कायँ और कोयल की कू में ज़मीन आसमान का अन्तर है? अन्तर का कारण साफ़ है। क्योंकि प्रत्येक अक्षर अपना अपना उच्चारण अलग अलग रखता है। हर ध्वनि का आकार प्रकार अलग अलग हैं। अतएव सबका भाव, अनुभव, असर और अर्थ भी अलग अलग है। कोमल, मंगल, सरस, आनन्द और घृणित, कठोर, क्रोध, भ्रष्ट आदि शब्द अपने अपने रूप में ध्यान देने योग्य हैं।

आज यदि किसी अँगरेज से प्रश्न किया जाय कि फादर (Father) का अर्थ पिता क्यों करते हैं, वृक्ष अर्थ क्यों नहीं करते? तो वह जवाब देगा कि यह शब्द लेटिन भाषा में पिटर और जेंद में पितर था। अनुमान है कि लेटिन से ही आकर अंगरेजी में फादर हो गया है और इसीलिये लेटिन अर्थ भी माना गया है। इसी तरह जेंद वाले भी कह देते हैं कि यह संस्कृत के पितृ शब्द से हमारे यहाँ आया है और उसी अर्थ में है। अब हम संस्कृत के पंडितों से पूछते हैं कि आप पिता शब्द का अर्थ बाप न करके वृक्ष क्यों नहीं करते? पण्डित उत्तर देते हैं कि पिता शब्द पा—रक्षणे धातु से बना है। इसलिये हम पा का अर्थ रक्षा करते हैं। किन्तु जब हम पण्डितों से फिर पूछते हैं कि पा—रक्षणे न करके पा—पल्लविते (वृक्ष) अर्थ क्यों नहीं करते, तो उनका मुख बन्द हो जाता है। पण्डितों का ही मुख

बन्द नहीं हो जाता, किन्तु समस्त संस्कृतज्ञों और निरुक्त को छोड़कर सारे संस्कृत-साहित्य का दम घुटने लगता है और सवाल ज्यों का त्यों रह जाता है कि शब्द के साथ अर्थ का क्या सम्बन्ध है। केवल निरुक्तकार ही लोग इस विद्या को जानते हैं। निरुक्तकार हमेशा से रहे हैं। यास्क मुनि के पूर्व शाकपूणि आदि ऋषि इस विद्या के ज्ञाता हो गये हैं।

मेरा बहुत दिन से विचार था कि इस विषय में कुछ माथामारी करूँ और किसी प्राचीन शिक्षा-पुस्तक के द्वारा इस जटिल ग्रंथि को उन्मुक्त कर डालूं, किन्तु हजार हाथ पाँव मारने पर भी कुछ नतीजा न निकला, कोई प्राचीन शिक्षा-पुस्तक न पा सका। केवल संस्कृत साहित्य अवलोकन करने लगा और प्रत्येक अक्षर के भाव पर ध्यान रखते हुए अर्थों पर भी विचार करने लगा। कुछ दिन के बाद सबसे पहिले मुझे अकार और हकार का विचित्र अर्थ-कौशल ज्ञात हुआ। मुम्बई में बापू जी शिवकर जी तलपदे से मिलकर इस विषय में और भी अधिक उत्तेजना मिली और क्रम-क्रम सरगुजा राज्य की रम्य वनस्थली में कोई चार वर्ष लगातार परिश्रम और अविश्रान्त चिन्ता करने पर समस्त मूलाक्षरों के स्वाभाविक भाव ज्ञात हो गये। केवल अर्थ ही ज्ञात न हुए, किन्तु अर्थों के साथ उनके स्वाभाविक रूपों (चित्रों) का भी पता लग गया।

जब मुझे इन अक्षरों के अर्थों और रूपों की एक क़ुदरती शृंखलाबद्ध अर्थ-परिपाटी ज्ञात हुई, तो मैंने प्रसन्न होकर यह बात इधर उधर अपने पढ़े-लिखे मित्रों से कहना शुरू की। संस्कृत के विद्वानों ने तो इसे उपेक्षा से सुन लिया और प्रसन्न होकर कह दिया कि हाँ परिश्रम सराहनीय है, किन्तु अंगरेज़ी शिक्षा सम्पन्न सभ्यों ने मुझे बनाना शुरू किया। उन्होंने कहा 'तुम अजब आदमी हो। तुम्हें यह पुराना सड़ा ख़ब्त क्यों सूझा? भाषा भी कहीं क़ुदरती होती है? भाषा क्या कोई सरदी गर्मी है जो क़ानून क़ुदरत के मुवाफ़िक़ हो? भाषा तो बिलकुल कृत्रिम चीज़ है। वह शुरू से आख़िर तक एकदम मनुष्यों की कल्पना है। हम रोज़ सैकड़ों

शब्द बनते हुए देखते हैं। कहो अभी हम सैकड़ों शब्द बना दें। अतएव जब शब्द ही कृत्रिम हैं, तो इनका क़ुदरती अर्थ क्या होगा? शुरू में मनुष्य बिलकुल बोल नहीं सकता था। वह ऊँ, आँ, कूँ, काँ तथा नाक, मुख, आँख और हाथों के इशारों से काम चलाता था। पश्चात् उन्हीं कूँ काँ की अधिकता हुई और धीरे धीरे कूँ के साथ रोटी, चों के साथ पानी और इसी प्रकार दा के साथ देना, ग के साथ जाना आदि का अर्थ-सम्बन्ध हो गया और जरूरतों तथा क़ुदरत की चीजों के साथ यही कूँ पूँ बड़े-बड़े शब्दों के रूपों में परिवर्त्तित हो गये। अतः इन शब्दों का कोई स्वाभाविक अर्थ हो ही नहीं सकता। हाँ, यदि आदि सृष्टि में मनुष्य मनुष्य ही रूप में पैदा हुआ होता तो हम मान लेते कि उसको भाषा क़ुदरत की ओर से मिली। क्योंकि मनुष्य बिना सिखाये बोल नहीं सकता। किन्तु जब मनुष्य आदि में मनुष्य था ही नहीं, जब वह पहिले बन्दर का बच्चा था, बन्दर से गौरेले (वन-मनुष्य) का बच्चा हुआ और गौरेले से मनुष्य हो गया, तब उसमें क़ुदरती भाषा कहाँ से आई? और जब क़ुदरती भाषा ही नहीं तो क़ुदरती अर्थ कहाँ से होगा?'

मैंने पहिले तो ये बातें दो चार ऐसे भले आदमियों के मुँह से सुनीं जिन्हें मैं प्रायः आवारा समझा करता था। किन्तु जैसे जैसे मैंने अँगरेजी शिक्षा-सम्पन्न महानुभावों से मुलाक़ात बढ़ाना शुरू की, वैसे ही वैसे मालूम होता गया कि जिन लोगों ने मेट्रिक से आगे अँगरेजी शिक्षा प्राप्त की है तथा कुछ सृष्टि-सम्बन्धी धार्मिक झगड़ों में रहते हैं और वैदिक सिद्धान्तों के मार्मिक रहस्यों से कोरे हैं वे प्रायः सब के सब इसी इवोल्यूशन थियरी के—इसी विकाशवाद की बाढ़ के—शिकार हो चुके हैं। चाहे वे आर्यसमाजी हों या धर्मसमाजी, मुसलमान हों या ईसाई, यदि उन्होंने योरोपीय विज्ञान, प्राणी धर्मशास्त्र और वनस्पति शास्त्र तथा विकाश आदि की दो चार पुस्तकें पढ़ी हैं, यदि उन्होंने डार्विन, स्पेंसर आदि की रचना देखी है तो निस्संदेह सब के सब विकाशवादी हैं। इसमें प्रमाण देने की जरूरत नहीं है। उनके लिये यह

प्रबल प्रमाण है कि उन्होंने ईश्वर के अस्तित्व से इनकार करनेवाली ईवोल्यूशन थियरी के खण्डन में आज तक कोई पुस्तक नहीं देखी। भारतवर्ष का यह मार्मिक दृश्य देखकर, न जाने कब की सौंपी हुई धरोहर में घुन लगते देखकर, भीतर ही भीतर धार्मिक मर्मास्थियों को चकनाचूर होते देखकर और धार्मिक पुरुषों को बेवक़ूफ़ों की जमात नाम पाते देखकर मुझे बहुत दुःख हुआ और भीतर ही भीतर विचार हुआ कि लोगों ने बुरी तरह धोखा खाया। विज्ञान का नाम बताकर इन्हें अज्ञान सिखाया गया, गुड़ दिखाकर ईंट मारी गई। किन्तु फिर विचार हुआ कि नहीं, धोखा नहीं खाया। उन्होंने जो सच समझा उसे माना। झूठ क्यों मानें? झूठ, चाहे स्वदेशी हो व विदेशी, न ख़रीदना चाहिये। सत्य, चाहे विदेशी हो या स्वदेशी, अवश्य ग्रहण करना चाहिये। किन्तु सत्य और झूठ की पहिचान क्या है? जब तक सारी सृष्टि के मूल तत्वों, उनके भेदों, उनके गुण, कर्म, स्वभावों तथा संयोग-वियोगों और आकर्षणानुकर्षणों अथवा उनके कार्यकारण सम्बन्धों का हस्तामलक ज्ञान न हो, जब तक सृष्टि की आदि सीमा और अन्तिम रेखा तक दृष्टि प्रवेश न कर जाय, जब तक सारा विश्व ब्रह्माण्ड आंख खोलते ही अपनी सच्ची हक़ीक़त न कहने लगे, प्रकाश, विद्युत, शर्दी, गर्मी, सूर्य, चन्द्र, नदी, पहाड़, पशु, पत्ती, कीट, पतङ्ग सब के सब बिना किसी रुकावट के अपनी अपनी सच्ची हक़ीक़त न कह दें कि यथार्थ क्या है, जब तक बिना भ्रम और संशय के हृदयङ्गम न हो जाय, तब तक अमुक ही सत्य है ऐसा कहना कभी सत्य हो सकता है? क्या केवल सौ वर्ष जीनेवाला मनुष्य इतना ज्ञान प्राप्त कर सकता है? क्या केवल ज्योतिष, गणित, भूगोल, इतिहास आदि विषयों में ही आयु पूर्ण नहीं हो जाती? जब ये सब बातें सत्य हैं, तो मनुष्य सत्य असत्य का अन्तिम निर्णय नहीं कर सकता। किन्तु हमारे इन अन्तर्भावों का उत्तर आस्तिक बुद्धि ने उसी समय इस प्रकार दे दिया कि इस जगत की असली हक़ीक़त वही जान सकता है जो इस की असलियत का जाननेवाला (परमेश्वर) है। उसने हमारे लिये हमारे बुज़ुर्गों को शुरू में सब आवश्यक और सूक्ष्मातिसूक्ष्म विषयों को

प्रावेशिक रूप से बतला दिया है जिसे हम बुनियादी इलहाम कहते हैं। उसी पर विश्वास किये रहो और निश्चय जानो कि एक न एक दिन योरोप की ये समस्त उटपटांग थियरियां झूठी साबित होंगी। उस वक्त तुम हँसोगे वे रोयेंगे। क्योंकि तुम विश्वासी हो, नफ़े में हो। किन्तु उसी समय एक आधुनिक योरोपीय विज्ञानवादी ने कहा—'ओ! काला मैन! यह कुछ भी नहीं है। यह सब भीख माँगने वाला बात है। हमने अपने परिश्रम से आज तक बहुत कुछ जाना है और इसी प्रकार आगे भी जानने की आशा है। तर्क, विज्ञान और दर्शन से काम लेते चले जाव, एक दिन सब उलझनें सुलझ जायँगी और सब कुछ जान जावेंगे'।

इन योरोपीय उत्तरों को सुनकर मैंने उनके सिद्धान्तों को एक अरसे तक ध्यान में रक्खा और समय समय पर उन पर विचार करता रहा। अखीर में मुझे उनकी सारी थियरी ग़लत जान पड़ी और ज्ञात हो गया कि वे लोग अभी सृष्टिविद्या में बिलकुल बच्चे हैं। किन्तु उनके विचार करने की शैली विकट है। वे नीचे से ऊपर को नहीं चढ़ते, बल्कि ऊपर से नीचे को जाते हैं। वे कारण से कार्य की जाँच नहीं करते, किन्तु कार्य से कारण जानना चाहते हैं जो मनुष्य की बुद्धि से बाहर है। अतः हम भारतवासी पढ़े-लिखे धार्मिकों से कहते हैं कि आप लोगों में जो पारस्परिक धर्मान्दोलन हो रहे हैं वे निकम्मे हैं। तुम पहिले पाश्चात्य विज्ञानधर्म के विरुद्ध आन्दोलन करो और उसे परास्त करो। यदि तुम उसे परास्त नहीं कर सकते, यदि तुम्हारे सिद्धान्त योरोपीय विज्ञानशैली के काटने वाले नहीं हैं, यदि वे केवल इतिश्रुतेः पर ही अवलम्बित हैं और यदि कलिकाल को कोसने तक ही आप का तर्कशास्त्र है, तो कान खोलकर सुन लो, सावधान होकर समझ लो और चश्मा लगाकर देख लो कि तुम्हारे विश्वासों का मूलोन्मूलन भीतर ही भीतर हो गया है और अधिक हो रहा है। यह बात निर्विवाद है कि पचास वर्ष के बाद आज जिन मसजिदों और मन्दिरों के लिये सैकड़ों आदमी गोली का शिकार बन रहे हैं और जिस वेदधर्म की रक्षा के लिये गुरुकुल और काशी विश्वविद्यालय के खोलने वाले तन, मन, धन से क़ुर्बान हो रहे हैं, उन्हीं

की सन्तान विना किसी दबाव के आप से आप उक्त मन्दिरों, मसजिदों और वेदशास्त्रों से दस्तबरदार हो जायगी और वे धार्मिक संस्थायें, वे मन्दिर और मसजिदें आप से आप अनाथ होकर थोड़े ही दिनों में नष्ट भ्रष्ट हो जायँगी, धूल में मिल जायँगी।

हम धर्मसभाओं में श्राद्धखण्डन और मूर्तिमण्डन के लेकचर सुनते हैं, मुसलमानों और आर्यों के मुबाहसे देखते हैं कि ये लोग आपस में एक दूसरे को निर्बल समझकर बहादुरी दिखला रहे हैं। किन्तु इन अन्ध श्रद्धालु दुराग्रहकारियों को ख़बर ही नहीं है कि हम यहाँ लड़ रहे हैं, उधर हमारा लड़का जो कालेज में पढ़ता है चुपके-चुपके विकाशवादी बन गया है। वह वेद, शास्त्र, बाइबल और क़ुरान को नहीं मानता। उसको ईश्वर, इलहाम और पुनर्जन्म आदि पर विश्वास नहीं है। वह केवल कष्ट के समय ईश्वर पर और ऊँच, नीच व्यक्तियों और योनियों को देखकर पुनर्जन्म पर विश्वास कर लेता है। यद्यपि यह हालत ईसाई, मुसलमान, हिन्दू, सिक्ख आदि सभी में पाई जाती है, पर याद रहे कि यह मौक़ा सब से अधिक ख़तरनाक आर्य-समाज के लिये है, जिसका दावा है कि वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है और सब सत्य विद्याओं का आदि मूल परमेश्वर है।

यद्यपि पहले मेरा विचार था कि मैं केवल अक्षरविज्ञान की एक छोटी सी पुस्तिका निकाल दूँ। किन्तु जब भाषाविज्ञान और मनुष्यसृष्टि तथा ईश्वर आदि विषयों पर उपरोक्त अनेक प्रकार की शंकाओं का प्रचण्ड प्रवाह उमड़ता हुआ देखा और आर्य पुत्रों को विकाशवाद का शिकार देखा तो इन शंकाओं का समाधान करते हुए ही अक्षरविज्ञान लिखना मुनासिब समझा। यही कारण है कि मूलविषय एक प्रकरण में और सहकारी विषय दो प्रकरणों में पूरे हुए हैं।

इस प्रकार इस पुस्तक में तीन प्रकरण हैं। पहिले प्रकरण में बतलाया गया है कि सृष्टि का रचनेवाला परमेश्वर अवश्य है। आदि में मनुष्य का बाप मनुष्य ही था, बन्दर नहीं। सारी आदिसृष्टि एक ही स्थान अर्थात् हिमालय पर ही पैदा हुई मूल पुरुष भाषा बोलते हुए ही पैदा हुए और जो

शब्द बोलते थे वे अर्थ और ज्ञानयुक्त थे। दूसरे प्रकरण में दिखलाया गया है कि वह आदि ज्ञान वेद और आदि भाषा वैदिक थी। इसकी पुष्टि में बतलाया गया है कि ज्योतिष, वैद्यक, नीति, धर्म, व्यापार और राज्यप्रणाली आदि पृथ्वी भर में भारतवर्ष और वेद से ही फैली हैं तथा संस्कृत, जेंद, फ़ारसी, अंगरेजी, अर्बी, स्वाहिली, चीना, जापानी और द्राविडी आदि संसार की प्रधान-प्रधान भाषायें, जो अपनी अनेक शाखाओं के साथ दुनिया भर में फैली हैं, वेद भाषा से ही निकली हैं। इन भाषाओं के शब्द देकर यह विषय प्रमाणित किया गया है। तीसरे प्रकरण में बतलाया गया है कि वेदभाषा मन गढ़न्त नहीं है। उसके धातु सृष्टि नियम के अनुकूल हैं और एक-एक अक्षर विज्ञान के अनुसार अपना-अपना अर्थ रखता है। अतः अर्थ के अनुरूप ही अक्षरों के रूप हैं और ऋषि लोग वैदिक काल में भी लिखना जानते थे। ये सब बातें विशेषकर आधुनिक योरोपीय शैली से ही प्रतिपादित की गई हैं और कहीं-कहीं ऋषियों के भी विचार दिये गये हैं। इस प्रकार से यह पुस्तक समाप्त की गई है।

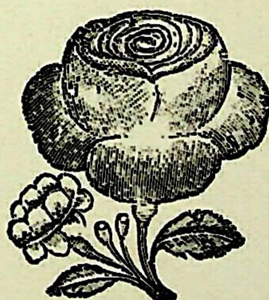
यद्यपि मैं ऐसी पुस्तक लिखने की योग्यता नहीं रखता और न उचित ही था कि मैं ऐसे गहन विषयों में हाथ डालूं। किन्तु मैंने योरोपीय विचारों को दूर तक सोचने के बाद उन्हें अपूर्ण और अशृङ्खल पाया। ऐसी हालत में मनुष्यों को भ्रम से बचाना और देश के इतिहास की संरक्षा करना मैंने अपना कर्त्तव्य समझा। अतएव अपने मानसिक भावों को इस पुस्तक के रूप में ग्रथित कर विचारशील विद्वानों के सामने रखता हूँ। यदि इतिहास और उसके प्रभाव की आवश्यकता भारतवर्ष को है, यदि भारतीय जनसमाज अपनी और अपने सम्बन्धियों की सच्ची बड़ाई से कुछ बल और उत्तेजना प्राप्त कर सकता है और सच्चे धर्म से सुखी हो सकता है, और यदि इसमें इस पुस्तक से कुछ सहकार प्राप्त हो सकता है, तो मेरा यह परिश्रम सफल होगा।

मैं जानता हूँ कि इस पुस्तक में भाषा-सम्बन्धी और विषय प्रतिपादन सम्बन्धी अनेकों दोष होंगे। पर क्या निर्दोष रचना सदोष मनुष्य से सम्भव है?

यह अपने विषय की मुकम्मिल पुस्तक नहीं है, किन्तु आरम्भिक भूमिका है, तथापि इस पुस्तक के विषय से सम्बन्ध रखने वाली सभी बातों का सार इसमें सञ्चित करने का प्रयत्न मैंने किया है। इस के लिखने में जिन पुस्तकों, पत्रों और लेखों से मुझे सहायता मिली है उनके लेखकों और सम्पादकों का मैं हृदय से आभारी हूँ। सब से अधिक कृतज्ञ मैं अपने परम मित्र ठाकुर शूरजी वल्लभदास वर्मा मुम्बई निवासी का हूँ, जिन्होंने मुझे हर प्रकार की सुविधा देकर इस पुस्तक के सम्पादन करने में समर्थ किया है।

छीटीखेड़ा, पोस्ट भोजपुर,
ज़िला रायबरेली।

—रघुनन्दन शर्मा।



ओ३म् ।

अक्षरविज्ञान ।

पहिला प्रकरण ।

शब्द के साथ अर्थ का विचार करने पर सहसा ये प्रश्न उपस्थित हो जाते हैं कि क्या शब्द के साथ अर्थ का कोई स्वाभाविक सम्बन्ध है ? क्या आदि सृष्टि में पैदा हुए मनुष्य बोलते थे ? यदि बोलते थे, तो शब्द अर्थ का संयोग कुदरती रीति से उनको मिला था या क्या ? यदि अर्थ ज्ञान का सम्बन्ध उनको पैदा होते ही मिला था, तो किसकी ओर से मिला था ? क्या कोई अन्तरिक्ष में ज्ञान रूपा चेतन शक्ति भी है ? बस यहीं तक प्रश्नों की गति है । यहीं तक प्रश्नशृङ्खला चलती है । इस भाव को सामने रखकर प्राचीन काल के ऋषियों ने जो उत्तर दिया है उसे हम यहाँ नहीं लिखना चाहते, किन्तु योरप के विद्वानों ने जो इस पर विचार किया है, जिसके अनुसार उनके शास्त्र बने हैं, और जिन शास्त्रों को पढ़कर लोग विकाशवादी हुए हैं, उन विचारों को, उस शृङ्खला को, हम यहाँ सारांशरूप से दो पैराग्राफों में वर्णन कर देना चाहते हैं ।

(क) आज तक के योरूपीय विज्ञान का निचोड़ यह है कि प्रकृति (मैटर) का सूक्ष्मातिसूक्ष्म रूप ईथर (आकाश) है । उसमें दो गुण हैं । पहिला—उसके परमाणुओं में गति का होना, दूसरा—उसकी गर्मी का क्रमक्रम कम होना । परमाणुओं के कम्पन और तरङ्गावली से शब्द, प्रकाश, गर्मी और विद्युत आदि होते हैं और उसके ही क्रमक्रम ठंढा होने से वायवीय तरल और कठोर पदार्थ बनते

हैं। इसी प्रकार ग्रह उपग्रह भी बनते हैं, जिनमें से हमारी पृथ्वी भी एक है। यह सारा खेल एक मात्र ईथर का है। ईथर के पूर्व उस पर सत्ता रखने वाला कोई दूसरा ईश्वर, परमात्मा आदि नहीं है।

(ख) पृथ्वी के ठंढा हो जाने पर उसमें एक बीज पैदा हुआ। उस बीज की अनेक शाखायें हो गईं। अनेक शाखाओं में परिवर्त्तन शुरू हुआ और वे शाखायें वनस्पति तथा प्राणी बन गईं। प्रत्येक प्राणी अपने पिता के गुण रखते हुए भी कुछ विलक्षण होता गया और अपने से विलक्षण अपने पुत्र को बनाता गया। पुत्र भी इसी प्रकार विलक्षण वंशवृद्धि करता गया। परिणाम यह हुआ कि बहुत काल के बाद मूलप्राणी अपनी पहिली आकृति प्रकृति से बिलकुल ही विलक्षण हो गया। तद्वत् प्रथम बने हुए मूलबीज की अनेक शाखाओं में से एक शाखा के विकाश का परिणाम यह मनुष्य भी है। मनुष्य का बाप मेढक, छपकली होता हुआ बन्दर हुआ और बन्दर से वनमनुष्य होकर मनुष्य हो गया। भिन्न २ देशवासी मनुष्यों के रूप, रंग, भाषा और विश्वास से ज्ञात होता है कि वे भिन्न भिन्न अनेक स्थानों में उपरोक्त क्रमानुसार पैदा हुए और एक दीर्घ काल तक एक दूसरे से अपरिचित रहे। जिस प्रकार रोज के अनुभव—तकलीफ, आराम, नफा, नुक्सान—के नतीजों से धीरे धीरे ज्ञान प्राप्त करते गये, उसी तरह पहिले कूँ, कूँ, आँ, आँ, चूँ, चूँ, माँ, माँ, आदि बोलते रहे और उसीसे अमुक २ पदार्थ लेते देते रहे। धीरे २ वही कूँ, कूँ आदि उस उस वस्तु के लिये शब्द बन गये और इसी प्रकार भाषा बन गयी। इस विकाश के अनुसार ज्ञान और भाषा की उन्नति वर्त्तमान समय तक पहुँची है, जो सब के सामने है।

यह चुम्बुक रूप से वर्त्तमान योरोपीय विज्ञानवेत्ताओं का अन्तिम और अटल सिद्धान्त है। इसी को बुनियादी पत्थर मानकर उनके दर्शन, वैद्यक, ज्योतिषादि सभी विद्याओं के सिद्धान्त कायम किये जाते हैं और इसी की शिक्षा दी जाती है। आज अंग्रेजी भाषा में इस विषय के हजारों ग्रंथ उपस्थित हैं और रोज अनेकों ग्रंथ लिखे जा रहे हैं। इन ग्रंथों को देशी, विदेशी सभी पढ़ते हैं और इन्हीं के अनुसार गुप्त व प्रकट अपना २ विश्वास रखते हैं।

यद्यपि विदेशियों ने ही इन सिद्धान्तों के खण्डन में भी सैकड़ों ग्रन्थ लिखे हैं, पर भारत में आज तक इसके विरुद्ध सर्वाङ्ग को देखते हुए एक भी ग्रंथ नहीं लिखा गया। हम धार्मिक सभाओं में बड़े २ विद्वानों को लेकचर देते हुए और यह कहते हुए देखते हैं कि हमारा धर्म, हमारे सिद्धान्त पूर्ण और सच्चे हैं, पर उसकी रक्षा में उनकी महान् उपेक्षा है। शोक ! ! !

विकाशवाद के सारांश में उपरोक्त दो पैराग्राफ हैं। एक—ईथर से लेकर पृथ्वी तक, दूसरा—बीज से लेकर आज तक। इस दूसरे सिद्धान्त का विस्तृत उत्तर आगे चलकर इसी प्रकरण में दिया जायगा, किन्तु पहिले पैराग्राफ का उत्तर यहीं दिये देते हैं। पहिले पैरा में कुंजी की बात—तत्त्व की बात—एक ही है, जिसको हम यहां फिर दोहराये देते हैं।

योरप का विज्ञान प्रकृति में परिवर्त्तन मानता है। वह मानता है कि ईथर क्रमक्रम ठंढा हो रहा है, इसी से उसकी हालत बदलती रहती है। योरूपीय विज्ञान को यह बात विवश होकर मानना पड़ी हैं। संसार का प्रत्येक पदार्थ नया, पुराना, बनता, बिगड़ता, जवान, वृद्ध होता देखने में आता है। सूर्य की गर्मी का कम होना, समुद्रों का धीरे धीरे सूखते जाना, पहाड़ों का टूटना आदि सभी तो परिवर्त्तनशील दृश्य हैं, इसीसे उसे भी परिवर्त्तनशील मानना पड़ा है। किन्तु अब हम उससे पूछते हैं कि क्या परिवर्त्तनशील होना किसी पदार्थ का स्वाभाविक गुण हो सकता है ? क्या स्वभाव में परिवर्त्तन हो सकता है। कभी नहीं—हरगिज नहीं। स्वभाव में परिवर्त्तन नहीं होता। परिवर्त्तनशील होना स्वाभाविक गुण नहीं है। जब स्वभाव में परिवर्त्तन नहीं होता—जब घड़ी की सुई का घूमना स्वाभाविक नहीं है—तब इस प्रकृति का सूक्ष्म से स्थूल होना, ईथर की गर्मी का क्रमक्रम ठंढा होना और संकुचित होना कैसे स्वाभाविक हो सक्ता है ? क्या इसकी गर्मी कम होते २ किसी दिन बिलकुल ही कम न हो जायगी ? क्या फिरती हुई घड़ी की सुई किसी न किसी दिन बन्द न हो जायगी ? घड़ी की सुई फिरती हुई एक दिन जरूर ठहर जायगी। उसी तरह ईथर की गर्मी कम होते २ एक दिन बिलकुल शीतल हो जायगी। 'कम होना' यह अस्थायी गुण है। जितने अस्थायी पदार्थ हैं सब परिवर्त्तनशील

होते हैं और जितने परिवर्त्तनशील पदार्थ हैं सब किसी न किसी दिन स्टॉप हो जाते हैं—ठहर जाते हैं। अतः यह सृष्टि भी परिवर्तित होती हुई किसी न किसी दिन अवश्य स्टॉप हो जायगी—ठहर जायगी।

यह भी एक दार्शनिक नियम है कि जो चीज कहीं जाकर ठहरती है, वह जरूर कहीं न कहीं से चली हुई होती है। अर्थात् जो चीज किसी दिन ठहरने वाली है, वह किसी न किसी दिन जरूर चली है। मतलब यह कि जिसका अन्त है, उसका आदि भी है। और जिसका आदि है, उसका अन्त भी है।

घड़ी किसी न किसी दिन ठहरेगी। अतः वह किसी न किसी दिन जरूर चली है। पर याद रहे कि घड़ी स्वयं नहीं चल पड़ी थी। किसी ने उसे चलाया था और चलाने वाला चेतन (ज्ञानी) था। इसी प्रकार इस परिवर्त्तनशील अर्थात् किसी दिन ठहर जाने वाली और किसी दिन चली हुई प्रकृति का चलाने वाला भी कोई दूसरा था और निस्सन्देह चेतन (ज्ञानी) था। अन्यथा इसके चलाने की उसे याद ही कहां से आती।

यदि प्रकृति में स्वयं चल पड़ने का स्वभाव * होता तो इसमें परिवर्त्तन न होता। क्योंकि स्वभाव में परिवर्त्तन, कमी बेशी, हलचल आदि अस्थिर गुण नहीं होते। 'स्वभाव' नाम ही उस पदार्थ का है, जो अपने द्रव्य के साथ नित्य और एक रस रहे। किन्तु यहां मैटर में उसके स्वभाव विरुद्ध दो बड़े संयोग वियोगात्मक परस्पर विरोधी गुण एक काल में एक ही जगह नियम बद्ध होकर काम करते हुए देखे जाते हैं। इससे सिद्ध होता है कि इस प्रकृति में ये कृत्रिम और अस्थिर गुण दूसरी जबरदस्त ताकत की ओर से डाले गये हैं। इसी सिद्धान्त को लेकर सांख्यकार कहते हैं कि :—

'अकार्यत्वेऽपि तद्योगः पारवश्यात्'

कार्य न होने पर भी इस प्रकृति का योग जबरदस्ती कराया गया है। अर्थात् कार्य रूप होना यद्यपि इसका स्वभाव नहीं है, तथापि इस काम में यह जबरदस्ती लगाई गई है। जिसने इसे इस कार्य्य में लगाया है, सांख्यकार कहते हैं कि :—

---

* सान्त, परिच्छिन्न और जड परमाणु में अनन्त गति हो नहीं सकती।

'स हि सर्ववित् सर्वकर्ता'

वह महान् शक्ति निस्सन्देह सर्वज्ञ और सर्वकर्ता है। उसी महान् शक्ति को हम लोग परमात्मा कहते हैं। फिर सांख्यकार कहते हैं कि :—

'ईदृशेश्वर सिद्धिःसिद्धा'

इस प्रकार हम लोग ईश्वर की सिद्धि सिद्ध करते हैं।

नियम में बँधी हुई इस परिवर्त्तनशील प्रकृति को किसी विज्ञानमय व्यापक शक्ति ने कार्य में नियुक्त किया है। अतः मानना पड़ेगा कि प्रकृति के ऊपर भी—ईथर के ऊपर भी—एक ज्ञानवाली चेतनशक्ति है, जिसके अधीन यह सारी प्रकृति और उसकी रचना है। उसी प्रवल न्यायी शक्ति ने जीवों पर दया करके उनके कर्मफलों को देने दिलाने के लिये इस सृष्टि की रचना की है।

हाथ से फेंका हुआ रोड़ा जिस प्रकार पहिले क्षण में तीव्र गतिवाला होता है और अन्त में मन्दगति होकर गिर जाता है, इसी प्रकार यह प्रकृति भी आदि में अधिक वेगवाली थी। उसका वेग अब क्रमक्रम घटता जाता है। यद्यपि वह नये नये ग्रह उपग्रह चाहे अब भी बना ले, पर स्मरण रहे कि वे ग्रह उतने टिकाऊ न होंगे जितने पुराने थे। वे ग्रह और अन्य सारे ग्रह उपग्रह किसी न किसी दिन रोड़े की भाँति क्षीणगति होकर गिर जायँगे, सारी प्रकृति ठहर जायगी और महा प्रलय होजायगी। अतः इस क्षीणप्राय दशा को 'ईवोल्यूशन' वा 'विकाश' नाम रखना सरासर सच्चे विज्ञान के विरुद्ध है। मेरी राय में यदि इसे 'डिवोल्शून' वा 'ह्रास' कहा जाय तो वेजा नहीं।

जब विकाश ही सिद्ध नहीं होता, तो क्रम २ उन्नति का सिद्धान्त कैसे कायम रह सकता है और कैसे माना जा सकता है कि निकृष्ट प्राणियों से उत्कृष्ट प्राणी बने—बन्दर से मनुष्य बना। अतएव उपरोक्त योरोपीय विज्ञान के प्रथम पैरा के सारांश का समाधान होगया। अब द्वितीय पैरा का उत्तर देते हैं।

दूसरे पैरा में वर्णित विषय के सम्बन्ध में निम्नोक्त तीन प्रश्न हो सकते हैं।

(१) क्या आदि सृष्टि में मनुष्य का बाप मनुष्य ही था, अथवा विकाशवाद

(डारविन थियरी) के अनुसार क्रमक्रम किन्हा दूसरे प्राणियों (बन्दर आदि) की शकलों में होता हुआ यह वर्तमान मनुष्य हुआ ?

(२) क्या आदि सृष्टि में मनुष्य-सृष्टि किसी एक ही स्थान पर हुई, अथवा पृथ्वी के भिन्न भिन्न भागों में ?

(३) क्या मनुष्य कोई न कोई भाषा बोलता हुआ ही पैदा हुआ, अथवा उसने क्रम क्रम बहुत दिन के बाद कोई भाषा बना ली ?

इन्हीं प्रश्नों की उधेड़ बुन में पड़कर बहुधा लोग हैरान हो जाते हैं और मनमानी कल्पनाओं से काम लेकर भ्रम में पड़ जाते हैं। अतएव हम इन शङ्काओं का यथा बुद्धि उत्तर देते हुए अपने कर्तव्य का पालन करते हैं।

उत्तर तीन ही प्रकार से दिया जा सकता है। पहिला वैज्ञानिक रीति से अर्थात् सृष्टि नियमों के अनुसार। दूसरा योरोपीय विद्वानों के मतानुसार। तीसरा भारतीय प्राचीन ऋषियों के अनुसार। हम इन तीनों प्रश्नों के निर्णय में तीनों ही प्रकार के उत्तर देते हैं और निर्णय करना विचारशील पुरुषों पर छोड़ते हैं।*

बेबिलन के कबरों से जो मनुष्य की लाशें निकलती हैं विद्वानों ने उनको सात हजार वर्ष की पुरानी बतलाया है। वे वैसी ही हैं जैसे आज कल के मनुष्य हैं। इसी प्रकार स्पेन में गायों की तसवीरें मिली हैं, जो २० हजार वर्ष की हैं और वैसी ही हैं जैसी इन गौओं की तथा खींचने वाले मनुष्य भी ऐसे ही कलमधारी थे जैसे अब हैं †। इसके अतिरिक्त चीन के मरु मैदानों में खोदने से मनुष्य की जो बस्तियाँ पाई गई हैं उस समय

---

* यद्यपि इस सिद्धान्त को कि 'मनुष्य बन्दर की सन्तान है' डारविन अथवा उसके सहकारी सिद्धान्तरूप से नहीं मानते, वे केवल अनुमान करते हैं। क्योंकि उनको अभी पूरी 'लिङ्क' (शृङ्खला) नहीं मिली। तथापि जितने अंश को उन्होंने माना है और लिखा है उसके खण्डन में भी हज़ारों पुस्तकें वहीं के विद्वानों ने लिखी हैं। पर भारती अङ्गरेजी विद्वान् अब तक इसी सनक में हैं कि 'मनुष्यों के बाप दादे बन्दर ही थे'। इसमें उनका क़ुसूर भी नहीं है, क्योंकि धर्म सभाओं के नामधारी और महामहोपाध्यायों तथा धर्माचार्यों और धार्मिक लीडरों ने धर्मपिपासुओं को इस विषय में शान्ति देने का कुछ भी प्रयत्न नहीं किया है।

† Children's Magazine, Feb., 1914.

को हैं जब वहाँ समुद्र नहीं था। बस्ती के बाद समुद्र का आना और न जानें कब रेत को छोड़कर चला जाना बतला रहा है कि मनुष्य अपनी इसी शकल में लाखों वर्ष पूर्व भी इसी प्रकार का था जैसा अब है। क्योंकि वहाँ जो मनुष्य सम्बन्धी पदार्थ पाये गये हैं वैसे ही हैं जैसे इस समय पाये जाते हैं।

अब हम इस विषय को संसार की आयु के साथ जाँचते हैं। संसार की आयु नियत करने में योरोपीय पण्डितों का मत भेद होते हुए भी जो संख्या अखीर में निर्धारित हुई है हम नीचे देते हैं और गणित से इस बात की जाँच करते हैं कि क्या डारविन का मत सत्य है।

योरोप के धर्माचार्यों ने अन्तिम निर्णय लिखा है कि संसार को पैदा हुए ६६८४ वर्ष हुए।

पदार्थ विज्ञानी लोग गर्मी, प्रकाश और ग्रह आदि के तारतम्य से जो समय नियत करते हैं वह ४०००००० चालीस लक्ष वर्ष है।

भूगर्भ विद्या के पण्डितों ने बड़ी सावधानी के साथ जांच करके सिद्ध किया है कि पृथ्वी दश करोड़ वर्ष की पुरानी है।

समुद्र विद्या विशारद प्रोफेसर जॉली ने समुद्र के खारीपने की जाँच करके बतलाया है और फैसला कर दिया है कि समुद्र का पानी इस प्रकार खारी दश करोड़ वर्ष में हो सकता है। इसी अन्तिम निष्पत्ति की वजह से जॉली महाशय को विलायत की रॉयल सोसायटी ने स्वर्ण पदक देकर सम्मानित किया है।

पृथ्वी का बनना जब आरम्भ हुआ था रेडियम के द्वारा उस समय से लेकर आज तक का एक समय निकाला गया है, जिसकी मर्यादा ७५०००००००० सात अरब पचास करोड़ वर्ष है। पर यह समय नियत करते २ आविष्कर्ता स्वयं कहते हैं कि 'ऐसे तो यह संख्या अनुमान से परे प्रतीत होती है, परन्तु वास्तव में रेडियम की शक्ति से सम्बन्ध रखने वाली गणना का यह फल है'। अतः बड़े संकोच के साथ ७५०००००००० सात अरब पचास करोड़ वर्ष की पृथ्वी ज्यादा से ज्यादा कूती जाती है।

इस पृथ्वी पर कितने प्राणी और वनस्पति हैं यह जान लेने पर परिणाम साफ निकल आयेगा।

कुछ वर्ष पूर्व स्पेंसर साहब ने अपनी एजुकेशन नामी पुस्तक में लिखा था कि 'वनस्पति विद्या के जानने वालों ने वनस्पतियों के जो भेद किये हैं उनकी संख्या ३२०००० तीन लाख बीस हजार तक पहुँची है और प्राणिशास्त्र के ज्ञाताओं को प्राणियों की जिन २ तरह २ की सूरतों से काम पड़ता है उनकी संख्या कोई २०००००० बीस लाख है'।

स्पेंसर के बाद और भी जाँच हुई है और कई लाख योनियाँ और नई दरियाफ्त हुई हैं। भारतवर्ष की गणना करनेवालों ने तो ८४००००० चौरासी लक्ष योनियों की गिन्ती की है*।

उपरोक्त सब बातों को ध्यान में रखकर अब विकाशवाद वालों के कथन को भी देखें। विकाशवाद वाले कहते हैं कि आदि सृष्टि में एक जन्तु था। क्रम २ उसी के इतने भेद हो गये हैं।

हमने अभी मनुष्य का इतिहास बतलाया है कि बीस हजार वर्ष की तो उसकी चित्र कला ही रक्खी है और लाखों वर्ष की उसकी अन्य चीजें रक्खी हैं। अगर हम २०००० बीस हजार वर्ष पहिले मनुष्य को दूसरी शकल में मानें और इसी प्रकार तेईस लाख शकलों में बीस बीस हजार वर्ष के बाद अन्तर मानें तो २३००००० × २००००=४६०००००००००० छियालीस अर्ब वर्ष होते हैं और यदि मनुष्य को चीन की बस्ती के माफिक १००००० एक लाख वर्ष पूर्व का मानें और ८४००००० लक्ष योनि के साथ गुणा करें तो ८४००००० × १००००० = ८४०००००००००००० आठ खर्ब

---

* यह गिन्ती मुसलमान विद्वानों ने भी ठीक मानी है। एक मुसलमान विद्वान् कहते हैं कि 'हफ्त दह हफ्ता दो कालिबदीद अम्। हमचो सब्जः बारहा रोईद अम्' अर्थात् (७×१०) + (७×२) = ८४ चौरासी लक्ष प्रकार के शरीरों को मैंने देखा और अनेकों बार बीज वृक्षन्याय से पैदा हुआ।

प्रसिद्ध खेल चौपड़ का भी यही अभिप्राय है। गोट मरने पर चौरासी घरों में घूमकर पकती है अर्थात् छुटकारा पाती है।

चालीस अर्ब वर्ष का समय चाहिये, परन्तु पृथ्वी की आयु (जो वेद के माफिक अब तक १९७०००००० एक अरब सतानवें करोड के करीब है) योरोप के विद्वानों ने अब तक दस करोड ही मानी है, जिससे यह विकाशवाद का सिद्धान्त गलत सिद्ध होता है।

यदि वे कहें कि मनुष्य की लिङ्क (शृङ्खला) जगत् भर के प्राणियों के साथ नहीं है, किन्तु विशेष २ प्राणियों के साथ है और इस प्रकार की कई श्रेणियाँ हैं और आदि में बीज भी कई प्रकार के थे, तो हम कहेंगे कि यह नाम मात्र का ही विकाशवाद है। क्योंकि यों तो सभी लोग वृक्ष के पहिले बीज मानते हैं और बीजों को सब पृथक् पृथक् बतलाते हैं। किन्तु विकाशवादी कहते हैं कि नहीं, नहीं, तुम विकाशवाद को नहीं समझते। मनुष्य की लिङ्क का सम्बन्ध समस्त प्राणी और वनस्पति से नहीं है। किन्तु खास खास प्राणियों का ही मनुष्य विकाश है। विकाश का सिद्धान्त है कि जो प्राणी अपनी आप रक्षा नहीं कर सकता उसे सृष्टि जीवित नहीं रखती। अतः संसार के सभी प्राणी भोजनोपार्जन की धुन में रात दिन व्यग्र रहते हैं। मौका महाल से नाना प्रकार की चेष्टा करते हैं। चेष्टा करते समय शरीर के जिस जिस भाग पर अधिक वजन पड़ता है वही वही भाग बहुत समय के बाद विलक्षण प्रकार का बन जाता है। उसकी सन्तान की सन्तान में दीर्घकाल के बाद एक विशेष अङ्ग पैदा हो जाता है और एक नये आकार प्रकार की जाति बन जाती है। इस थियरी और सृष्टि नियम के आधार पर विद्वानों ने माना है कि :—

आदि सृष्टि में पानी पर एक ऐसा जन्तु पैदा हुआ जिसे न तो प्राणी कह सकें न वनस्पति। उसने अपने पोषण करने के लिये प्रयत्न किया। उसकी वंश वृद्धि हुई। वंशजों ने भी दैविक घटनाओं के अनुसार अपने पोषणार्थ मौका महाल से प्रयत्न करना शुरू किया। बहुत दिन के बाद उनमें से कुछ मछली बन गये। पानी में बहुधा लकड़ी पड़ी रहती हैं। जो मछलियाँ लकड़ी में चढ़ने का अभ्यास करती रहीं वे वृक्ष में चढ़ने वाली गिलहरी आदि बन गईं, उधर जो किनारे पर स्थल में अभ्यास करती रहीं वे मेढक आदि बन कर सुवर

आदि बन गईं और इसी तरह क्रम क्रम घोड़ा, बन्दर, गौरेला (वनमनुष्य) होते हुए मनुष्य बन गया * ।

जड़ पानी से आरम्भ में चेतन कीड़ा कैसे बन गया यह जटिल प्रश्न न करके उपरोक्त विकाशवाद का उत्तर यह है कि जो प्राणी जिस अङ्ग वा जिस इन्द्रिय से अधिक काम लेता है उसके उस अङ्ग वा उस इन्द्रिय के पूर्व गुणों में कुछ वृद्धि वा ह्रास हो जाता है यह सत्य है, पर उस अङ्ग वा इन्द्रिय का आकार प्रकार उलटा-सीधा टेढ़ा-मेंढा नहीं हो जाता, कोई नया अङ्ग वा इन्द्रिय फूट नहीं निकलती और न कोई अङ्ग लोप ही हो सकता है। हम अपने इस आरोप की पुष्टि में निम्नोक्त तीन वैज्ञानिक युक्तियाँ देते हैं।

(१) किसी भी प्राणी की इच्छा से उसके शरीर में हड्डी पैदा नहीं हो सकती। हड्डी की शाखा नहीं फूट सकती । दो पैर की जगह चार पैर अथवा छे पैर नहीं हो सकते। जिनके आँख नहीं है उनके आँख पैदा नहीं हो सकतीं और न हाथ, पैर, आँख वालों के ये अङ्ग गायब ही हो सकते हैं। क्योंकि हम देखते हैं कि हड्डी का सम्बन्ध प्राणी के ज्ञान तन्तुओं से नहीं है। दाँत में सुई चुभाइये अथवा टूटी हुई (शरीर को छेद कर बाहर निकली हुई) हड्डी को चाकू से काटिये, आपको बिलकुल तकलीफ न होगी। जब दाँत और हड्डी का सम्बन्ध आपके मन अथवा बुद्धि के साथ है ही नहीं, तो दाँत अथवा अन्य हड्डी पर आपकी इच्छा शक्ति का कैसे असर होगा ? जब आप अपने बालों को अपनी इच्छा से हिला नहीं सकते—उन्हें खड़ा नहीं कर सकते—तो वे आपकी इच्छा से कैसे घट बढ़ सकेंगे ? इसी तरह प्रयत्न से भी कोई चीज फूट कर बाहर नहीं निकल सकती। क्योंकि प्रयत्न तो इच्छा के बाद होता है। अतः विकाश की थियरी, जो इच्छा और प्रयत्न से अङ्गों अर्थात् हड्डियों की उत्पत्ति मानती है, बिलकुल असत्य है।

(२) भोजन प्राप्त करने में आँख, नाक, जिह्वा और त्वचा की आवश्यकता हो सकती है, पर भोजनप्राप्ति का सम्बन्ध शब्द के साथ कुछ भी नहीं है। तब प्राणियों में कर्ण इन्द्रिय की उत्पत्ति क्यों और कैसे हुई ?

* Picture Book of Evolution.

(३) यदि जरूरत और इच्छा होने पर उन पशुओं के शरीरों पर वाल उग और बढ़ सकते हैं जो बर्फानी स्थानों में रहते हैं, तो हजारों साल से बर्फानी स्थानों में कष्ट पाने वाले ग्रीनलैण्ड आदि निवासी मनुष्यों के शरीरों पर बाल क्यों न उग निकले ? हम देखते हैं कि जिन जीवों को परमात्मा ने ऐसे वाल दिये हैं उनके शरीर पर सरदी पड़ते ही वाल निकल आते हैं और गर्मी के मौसिम में निकले हुए बाल कम हो जाते हैं *। पशुओं, पक्षियों की इच्छा से तो छे महीने में वाल बढ़ जावें, पर ग्रीनलैण्ड के मनुष्यों के शरीरों पर हजारों वर्षों में भी वाल न उगें यह कैसा विकाशवाद का अन्धेर है ? इच्छाशक्ति तथा प्रयत्न से जब शरीर पर वाल भी नहीं उग सकते, उगे हुए बढ़ भी नहीं सकते, तो कान जैसी वेजरूरी इन्द्रिय और हड्डी जैसी बुद्धि से भी सम्बन्ध न रखनेवाली वस्तु आप से आप कैसे बन सकती है ? अतएव प्राणी आप ही आप अपने आकार प्रकार में फेरफार नहीं कर सकता।

इसके अतिरिक्त यदि यह कहा जाय कि दो श्रेणियों के मिश्रण से भी तो तीसरी विलक्षण जाति उत्पन्न हो जाती है, अतः सम्भव है दो श्रेणियों ने मिल २ कर जगत् की इतनी जातियाँ कर दी हों। इसका उत्तर सृष्टि ने आप से आप दे दिया है। सृष्टि ने जो उत्तर दिया है रहस्यपूर्ण है। माली एक पेड़ से कलम लाकर और दूसरे में लगाकर दोनों से विलक्षण फल तैयार कर लेता है। पर वह विलक्षण फल दूसरा वृक्ष अथवा दूसरे फल पैदा नहीं कर सकता। यह चरित्र हम रोज बगीचों में आम और वेर आदि वृक्षों में देखा करते हैं। इसी प्रकार गधे और घोड़ी से खच्चर नाम का एक विलक्षण पशु पैदा हो जाता है, पर वह भी औलाद पैदा नहीं कर सकता। ये उदाहरण हैं जो प्रवलता से 'मिश्र-योनिज-जाति' का खण्डन करते हैं। मिश्र-योनिज-जाति का ही खण्डन नहीं करते, किन्तु एक सच्चा और वैज्ञानिक आदेश देते हैं कि:—

'यदि कोई भी जाति जरा भी अपनी वंश परम्परा के प्रतिकूल अपने शरीर में कोई भी नई बनावट उत्पन्न करेगी, तो उसका वंश न चलेगा।'

---

* Children's Magazine, Feb., 1914.

कुछ योनियाँ ऐसी भी पाई गयी हैं, जिनके मिश्रण से वंश परंपरा चलती है। पर वे जातियाँ जो हमारी दृष्टि में दो समझ पड़ती हैं निस्सन्देह कुदरत की दृष्टि में एक ही हैं, अन्यथा उन दोनों के मिश्रण से वंश कदापि न चलता।

हमारी दृष्टि में—हमारी बाँधी हुई शृंखला में—हमारी नियत की हुई व्यवस्था में—सरासर भूल है। हम बहुत करके बाहरी आकार प्रकार की समता देखकर ही लिङ्ग बनाते हैं, पर वह सृष्टि नियम के अनुसार नहीं होती। क्या घोड़े और गधे की समता चुनने में हमने अपनी समझ में कोई गलती की है? क्या गधा बिलकुल ही घोड़े की शकल का नहीं है? पर सृष्टि कहती है, 'न, गधे और घोड़े से कुछ भी सम्बन्ध नहीं है'।

हम काम पड़ने पर बकरी और मृग को बिलकुल भिन्न भिन्न जाति कह दें तो ताज्जुब नहीं, पर सृष्टि दोनों को एक समझती है। जाना गया है कि इन दोनों के मिश्रण से वंश परम्परा चलती है। हम बाज समय बिलकुल एक ही जाति के प्रान्त विभेदी शरीरों के वैषम्य को देखकर कह उठते हैं कि यह बिलकुल कोई दूसरी जाति है। पर सृष्टि साबित करती है कि, नहीं, यह दूसरी जाति नहीं, किन्तु एक ही है। टेराडेल्फिगो के मनुष्यों को देखकर डारविन जैसा प्राणिशास्त्री कह उठा था कि 'उनको देखकर इस बात पर कठिनता से विश्वास किया जा सकता है कि वे भी हम लोगों की तरह मनुष्य हैं' *।

किन्तु वही डार्विन बन्दर और गौरिल्ला को देख कर चिल्ला उठा कि 'मनुष्य निस्संदेह इनका समीपी और इन्हीं का उन्नत परिणाम है'। लेकिन सृष्टि ने उसके अनुमान को उसी तरह काट दिया जिस तरह घोड़े और गधे के साम्य तथा बकरी और हिरण के वैषम्यवाले अनुमान को काट दिया है। मतलब यह कि जिन जातियों से मिश्रयोनिज वंश चल सकता है वे भिन्न जातियाँ नहीं हैं, केवल टेराडेल्फिगो के मनुष्यों की भाँति रूप बदले हुए एक ही जाति हैं और जिन जातियों से मिश्रयोनिज वंश नहीं चल सकता वे

---

* इसी प्रकार की एक जंगली जाति अमेरिका की अमेजन नदी के किनारे वृक्षों पर निवास करती है, जिसके होंठ एक २ हाथ लम्बे होते हैं। ये बिलकुल ही मनुष्य से विलक्षण आकार वाले हैं, किन्तु हैं मनुष्य। 'सरस्वती', वर्ष १०, अंक ४।

निस्संदेह बिलकुल भिन्न २ जातियाँ हैं। मनुष्य के संयोग से गौरिल्ला वन्दर आदि से लेकर घोड़े गधे तक किसी में भी गर्भ धारण नहीं हो सक्ता। अतः मनुष्य उस शृंखला का नहीं है। किन्तु हिरण और बकरी अथवा टेरा-डेल्फिगो और मनुष्य, यद्यपि देखने में—आकार प्रकार में—भिन्न हैं, पर उनसें वंश चलता है। इसलिये वे एक हैं। प्राचीन ऋषियों ने इस विषय पर बहुत कुछ विचार करने पर निश्चय किया है कि :—

'समानप्रसवात्मिका जातिः'—न्यायशास्त्र

अर्थात् जाति वही है, जिसमें समान प्रसव हो—जिनके पारस्परिक योग से वंश चले। वे भिन्नरूप होने पर भी एक ही जाति हैं। किन्तु आमों की कलमों से उत्पन्न हुए फलों और घोड़े गधे से उत्पन्न हुए खच्चर से वंश नहीं चलता, इससे वे एक जाति नहीं कहे जा सक्ते।

कलमी आम में वृक्ष और फल क्यों नहीं लगते? खच्चर के औलाद क्यों नहीं पैदा होती? इसका उत्तर भारतवर्ष के अतिरिक्त संसार में कोई भी देश ठीक २ नहीं दे सक्ता। क्योंकि इस पहेली के अन्दर तो कर्म, कर्म-फल और उनका भोग तथा पुनर्जन्म का गूढ़ रहस्य भरा हुआ है।

पुनर्जन्म की यह प्रक्रिया है कि मनुष्य के कर्मों के साथ साथ उसके बाह्य शरीर और अन्तर शरीर पर विलक्षण परिवर्त्तन होता है।

इसे प्रायः सभी लोग जानते हैं कि चोर और डाकुओं की शकलें भयानक हो जाती हैं, अन्तःकरण समेत आत्मा कर्मों के कारण विलक्षण बन जाता है और मरने के बाद ऐसी योनि में आकर स्थित होता है जैसे कर्म होते हैं*। अब यदि यहाँ पृथ्वी पर आप कोई कृत्रिम सृष्टि अथवा नियम के प्रतिकूल नई जाति बना डालें, तो उसमें आने के लिये बीज कहाँ से आयेगा? क्योंकि

---

* सृष्टि में कर्म और उनके परिणाम मुकर्रर हैं। क्योंकि सृष्टि के कानून नियत नियमित हैं। अतएव जितने प्रकार के कर्म हैं उतने ही प्रकार की योनियाँ भी मुकर्रर हैं। यहाँ तक कि प्रत्येक योनि में भी उत्तम, मध्यम, निकृष्ट और अधम आदि भेद विद्यमान हैं। सृष्टि का कायदा है कि अमुक प्रकार के कर्म की पराकाष्ठा पर पहुँचने से अमुक योनि में जाना ही पड़ता है।

बीज तो वही है जो यहाँ से गया है। यह बीज कोई दूसरी चीज नहीं है। वह तो मृत पूर्वजों का लिङ्गशरीर है*। यदि ऐसा न होता तो खच्चर के वीर्य से जीव क्यों न उत्पन्न होते और कलमी आम में आम के बीज क्यों न होते? पर हों कहाँ से। खच्चर ने गधे के वीर्य से निकलकर घोड़ी के गर्भ में अपना रूप दोनों से भिन्न एक नये प्रकार का बनाया †। यही कारण है कि उसके वीर्य में जीव आकर्षित नहीं होते। विजातीय किस सम्बन्ध से आकर्षित करे? और यही कारण है कि कलम किये हुए वृक्षों के फल भी अन्य फल नहीं देते। इस उदाहरण से विकाशवाद के दोनों सिद्धान्त कि—(१) आप ही आप धीरे धीरे माता पिता के अतिरिक्त भी कुछ गुण एकत्रित करते २ कुछ काल में एक नये रूप की नई जाति बन जाती है अथवा (२) पृथक् पृथक् दो श्रेणियों के मिश्रण से मिश्र योनिज जाति बन जाती है—गिर गये। मिश्र योनिज जाति का सिद्धान्त तो प्रत्यक्ष ही खण्डित हो गया। किन्तु परोक्ष रीति से यदि सूक्ष्मतया देखो तो विकाशवाद का 'क्रम-क्रम उन्नति से वंश विलक्षण हो जाता है' यह वाद भी उड़ गया। यथा—

प्रश्न—खच्चर के औलाद क्यों नहीं होती?

उत्तर—मिश्र योनिज जाति होने से।

प्र०—मिश्र योनिज जाति होने से औलाद क्यों नहीं होती?

उ०—इसलिये कि उसने अपनी वंश परम्परा अर्थात् बाप दादे के प्रतिकूल अपने आकार प्रकार में एक विलक्षण उन्नति की।

प्र०—मिश्र योनिज जातियों में भी तो परम्परा चलती है।

उ०—वे जातियाँ दो नहीं, किन्तु एक ही हैं।

प्र०—उनके आकार प्रकार तो भिन्न २ हैं, और उनसे बच्चा भी पैदा होता है?

---

* जो योनियाँ पहले पृथ्वी पर थीं, पर अब नष्ट हो गई हैं, उनके लिङ्ग शरीर दूसरी सृष्टि में उसी रूप से पैदा होंगे।

† यह नई थियरी नहीं है। चाणक्य नीति में लिखा है कि 'समृत्युमुपगृह्णाति गर्भमश्वतरी यथा'। अर्थात् जैसे खच्चरी गर्भवती होने पर मर जाती है।

उ०—उनके आकार प्रकार हमारी दृष्टि में उसी प्रकार भिन्न हैं जिस प्रकार टेराडेल्फिगो के मनुष्य, किन्तु सृष्टि की दृष्टि में वे समान प्रसवा एक ही जाति के दो भेद हैं।

जब यह सिद्ध हो गया कि अपनी वंश परम्परा के प्रतिकूल जरा भी आकार प्रकार में परिवर्त्तन होने से वंश नहीं चलता, तब विकाश वाद में—क्रमक्रम उन्नति वाले धोखे के विश्वास में—कुछ भी दम बाकी न रहा।

यहाँ तक यह दिखला दिया गया कि गणित की रीति से क्रमक्रम उन्नति सृष्टि की आदि से आज तक इतने दिनों में नहीं हो सकती। कोई भी प्राणी अपनी हड्डियों में काबू न रखने के कारण अपना आकार प्रकार स्वयं बदल नहीं सकता और न मिश्र-योनि-सम्बन्ध से वंश चल सकता है।

अब बतलाते हैं कि मनुष्य बन्दर आदि पशु विभाग का प्राणी नहीं है। बन्दर और गोरेला (वनमनुष्य) की बनावट में उतना अन्तर नहीं है जितना गोरेला और मनुष्य में अन्तर है और यह अन्तर ऐसा है जिसको विज्ञान कभी भी एक न होने देगा।

संसार में मनुष्य को छोड़कर जितने प्राणी हैं किसी के भी बालों में रंग और बनावट का वैसा परिवर्तन नहीं पाया जाता जैसा मनुष्यों के बालों में। जो गाय सफेद होती है, आजीवन सफेद ही रहती है। जो घोड़ा लाल होता है, आजीवन लाल रहता है। जो बन्दर भूरा होता है, भूरा ही रहता है। और जो वनमनुष्य जिस रंग का होता है, आजीवन उसी रंग का रहता है। पर मनुष्य के बालों का रंग चार बार पलटता है। पैदा होने पर भूरे, फिर काले, तब सफेद और अन्त में पिंगल हो जाते हैं। मनुष्य का बालों के साथ क्या सम्बन्ध है? इस बात का उत्तर देना भारतवर्ष के अतिरिक्त और किसी देश के पण्डित का काम नहीं है। अथर्व वेद १४।५।५५ में लिखा है कि :—

'बृहस्पतिः प्रथमः सूर्यायाः शीर्षे केशमकल्पयत्'

अर्थात् बुद्धितत्त्व ने पहिले ही सूर्य के द्वारा शिर में बालों को पैदा किया। मनुष्य का शिर आकाश की ओर है। आकाश जिसको द्यौ, अग्नि, बृहस्पति आदि कहते हैं बुद्धितत्त्व का प्रकाशक और सूर्यकिरणों के द्वारा बुद्धिसत्त्व को

मनुष्य के शिर में पहुँचाता है। अब निर्णय हो गया है कि ईथर (आकाश) ही सूर्य को भी प्रकाश देता है और ईथर ही विद्युत को भी पैदा करता है। विद्युत से और केशों से कितना सम्बन्ध है वह कहने की जरूरत नहीं है। केशों पर विद्युत का असर बहुत ही शीघ्र पड़ता है। केशों में एक डंडी रगड़कर कागज के टुकड़े के पास ले जावो। कागज खिंचकर डंडी में आ जायगा। जब से बच्चा ज्ञान प्राप्त करने लगता है तभी से बाल श्याम रंग के हो जाते हैं। श्याम रंग पर सूर्य का प्रकाश कितनी जल्दी पड़ता है यह भी कहने की जरूरत नहीं है*। इस विवरण से समझ सकते हो कि जिनके बालों का रंग नहीं बदलता ऐसे बन्दर और वनमानस कभी मनुष्य के बुजुर्ग हो सकते हैं? कभी नहीं †।

जिस प्रकार बालों की विचित्रता आपने पढ़ी उसी प्रकार की विचित्रता मनुष्य में एक और है। वह यह कि मनुष्य पानी में बिना सिखलाये हुए नहीं तैर सकता। एक चींटी से लेकर पशु, पक्षी, कीट पतङ्ग—यहाँ तक कि बन्दर भगवान् भी—पानी में डालते ही तुरन्त तैरने लगते हैं। एक क्षण भर भी यह नाविकज्ञान सीखने के लिये उनको किसी की सहायता की आवश्यकता नहीं होती। किन्तु मनुष्य महाराज को तैरना बिना सिखाये नहीं आता। यही कारण है कि हर साल अनेक मनुष्य जल में डूब कर मर जाते हैं। तैरना ही क्या, मनुष्य को बिना सिखलाये कुछ भी नहीं आता। पर अन्य प्राणियों को उनके निर्वाह का सभी ज्ञान बिना किसी गुरू के वंश परम्परानुसार होता चला आता है। किन्तु हाँ, मनुष्य स्वप्न में उड़ता और तैरता अवश्य है। स्थल के प्राणी जागते हुये तैर लेते हैं और मनुष्य स्वप्न में उड़ लेता है,

---

* साइंस के जानने वाले सब जानते हैं कि रंगों के अभाव का नाम श्याम और सब रंगों का एकत्र होना सफेद है। जब कोई रंग नहीं रहता तब रात होती है और जब सब रंग होते हैं तो उसे दिन कहते हैं।

खाली स्थान में जिस प्रकार पानी और वायु घुसती है इसी प्रकार श्यामता में प्रकाश शीघ्रता से घुसता है। इस थियरी के माफिक गायत्री मन्त्र से शिखा बन्धन भी खाली इल्लत नहीं है।

† मनुष्य के शरीर भर के केशों का रंग बदलता है, क्योंकि उसके शरीर भर के ज्ञानतन्तु अधिक बुद्धिमानी से काम करते हैं।

यद्यपि इस लोक में इन दोनों विद्याओं की शिक्षा दोनों में से किसी को नहीं दी गई। क्या कृपा कर योरोप के विद्वान इसका कारण कह सकेंगे? कभी नहीं। योरोप क्या सारे संसार के लोग इन बातों का उत्तर नहीं दे सकते। पर भारत! वह तो ऐसे प्रश्नों के उत्तर देने के लिए ही राजपाट, व्यापार और कला-कौशल आदि छोड़कर सन्यासी बना बैठा है।

यह कौतुक पुनर्जन्म का ज्वलन्त प्रमाण और प्रत्यक्ष अनुभव है। अनेकों जन्म जन्मान्तरों में प्राणियों ने नाना प्रकार की योनियों में प्रवेश किया है। समय पड़ने पर वही संस्कार जाग्रत हो जाते हैं और प्राणी जल में पड़ते ही, मनुष्य सोते समय संकट में पड़ते ही तैरने और उड़ने लगता है। किन्तु मनुष्य अपनी इस देह के साथ विना सिखाये कुछ भी नहीं कर सकता*।

अब इस घटना को विकाशवाद के साथ मिलाकर हम प्रश्न करते हैं कि मनुष्य के पिता बन्दरदेव तो तैरना जाने, पर यह विकाश को प्राप्त हुआ उनका पुत्र मनुष्य जो अधिक उन्नत समझा जाता है तैरना न जाने। इसका जवाब क्या है† ?

इसी प्रकार वृक्षों की खुराक प्राणनाशक वायु और प्राणियों की खुराक प्राणप्रद वायु है। वृक्ष प्राणप्रद वायु देते हैं और मनुष्य प्राणनाशक वायु देते हैं। इससे स्पष्ट होता है कि वनस्पति और प्राणियों से भी कोई जीवन सम्बन्धी अथवा सामाजिक वा शृंखला सम्बन्धी मेल नहीं मिलता। तब विकाशवाद की क्रम-क्रम उन्नति सिवा बच्चों के खेल के और क्या कही जा सकती है?

इन तीन दृष्टान्तों से दिखला दिया गया कि मनुष्य पशुओं से और

---

* यह प्रबल प्रमाण है कि मनुष्य को आदि सृष्टि में ईश्वर की ओर से ज्ञान और भाषा दी गई। अन्यथा वह बिना गुरु के कुछ भी न सीख सकता।

† इसी प्रकार प्रायः पशुपक्षी विना सिखाये हुये घोंसले बनाना, दवा करना, तैरना आदि अपनी ज़रूरत के काम कर सकते हैं। केवल एक मनुष्य ही है जो शिक्षा का भिक्षुक है। इसी लिये कहा जाता है कि क्रम-क्रम उन्नति का सिद्धान्त झूठा है।

प्राणिवर्ग वनस्पतियों से कुछ भी सम्बन्ध नहीं रखते।

अब दिखलाते हैं कि योरोपीय पण्डितों को अँधेरी रात में क्यों ठोकर खानी पड़ी हैं। योरोप के विद्वानों को प्राणियों और वनस्पतियों की सन्धियों को देखकर जो धोखा हुआ है उसका थोड़ा सा वर्णन इस जगह करके उसके समाधान के साथ पहिले प्रश्न के उत्तर को समाप्त करेंगे।

जिस प्रकार मनुष्य और वनमनुष्य को देखकर दोनों के एक होने का सन्देह होने लगता है, उसी प्रकार चमगीदड़ (Bat) को देखकर पशु पक्षियों की शृंखला में विचार होने लगता है और उसी प्रकार मछली और पक्षी, सूस और भैंस को देखकर भी सन्देह आ जाता है। इसी प्रकार नागवेल* और सर्प के मिलान तथा अन्य सहस्रों वनस्पति और कीटों को देखकर निर्णय ही नहीं होता कि इसे कीट कहें या वनस्पति, क्योंकि बहुत से कीटाणु और वनस्पति पुद्गल एक ही प्रकार के होते हैं। इससे किसी प्रकार भी निश्चय नहीं होता कि इन्हें वनस्पति श्रेणी में रक्खें या कृमि कीट जन्तुओं की श्रेणी में। ऐसी दशा में एक बार यह ध्यान आये बिना नहीं रह सकता कि क्या यह एक रूपता की ही वहुरूपता है और वास्तव में एक दूसरे से उतना ही सम्बन्ध है जितना कि बाप का बेटे से। परन्तु ज़रा गहरी नज़र से देखने पर और पुनर्जन्म के सिद्धान्त पर विचार करने से सारी उलझन सुलझ जाती है और मामिला बात की बात में साफ़ हो जाता है।

आप सारी चेतन सृष्टि का एक सृष्टि नियम के द्वारा विभाग करें, तो सारी चेतन सृष्टि की शारीरिक रचना के माफिक तीन महा भाग होंगे। पहिले खड़े शरीरवाले अर्थात् आकाश की ओर शिर वाले मनुष्य। दूसरे आड़े शरीरवाले

---

* नागबेल वह वनस्पति है, जो सुवर्ण के तार की भाँति वृक्षों में लिपटी रहती है। उसकी जड़ को भूमि की दरकार नहीं होती। वह दूसरे वृक्ष के ही ऊपर सर्प की भांति रेंगती रहती है और उसी को खाकर ख़ुद बढ़ती और सन्तान बढ़ाती है। टूट जाने पर टूटा हुआ टुकड़ा अलग एक लता बनकर अपना विस्तार करने लगता है। यद्यपि यह वनस्पति सर्पादि जन्तुओं से बहुत कुछ मिलती है और इसी कारण से इसे नागवेल कहते भी हैं, पर वनस्पति के गुण आधे से अधिक हैं इसलिये यह वनस्पति ही है।

अर्थात् उत्तर दक्षिण की ओर शिरवाले पशु* जिनमें जल, स्थल और वायु तथा वन वाले भी हैं। तीसरे नीचे की ओर शिरवाले वृक्ष। यद्यपि ये तीनों प्रकार की बनावटें क्यों होती हैं इसका पूर्ण रीति से वर्णन हम यहाँ नहीं करते (इसका विस्तारपूर्वक वर्णन हमने अपने "वैदिक सम्पत्ति" नामक ग्रंथ में किया है) पर इतना ही बताते हैं कि ज्ञान का दुरुपयोग करने से शिर द्यौ—आकाश—की ओर से हट जाता है और पशु हो जाना पड़ता है तथा ज्ञान और कर्म दोनों के दुरुपयोग से शिर और कर्मेन्द्रिय (हाथ-पैर) भी छीन ली जाती हैं और वृक्ष बनाकर उलटा—शिर नीचे—करके ज़मीन में गाड़ दिया जाता है। बस इन्हीं श्रेणियों में जाने के लिये जो दरवाज़े रक्खे गये हैं अर्थात् ऊपर कही हुई बन्दर, चिमगीदड़ आदि जो सन्धि-योनियाँ† हैं वही विकाशवाद के सिद्धान्तियों को हैरान कर रही हैं। अतएव हम इसका कारण समझाते हैं। यदि ग़ौर करके देखें तो सन्धियोनियाँ भी दो प्रकार की हैं—एक उत्तम, दूसरी निकृष्ट, जैसे बन्दर और वनमनुष्य, नागबेल और मानेर तथा यमोवा‡ आदि। मनुष्य योनि से जब प्राणी नीच योनि में

---

* वनमनुष्य और बन्दर मनुष्य की भांति छाती तानकर खडे नहीं हो सके, वे ज़रा झुके हुए होते हैं।

† वनमनुष्य, बन्दर, चमगीदड़, मछली, सर्प, पनडुब्बी, बतक, नागबेल, मानेर, यमोवा आदि सन्धियोनियाँ हैं।

‡ ये कीटाणु अब तक संदिग्ध दशा में हैं। कोई इन्हें कीट कहता है, कोई वनस्पति। पर कट जाने पर इनके दोनों खण्डों का जीवित रहना फैसला करता है कि ये कीट नहीं, किन्तु वनस्पति हैं। क्योंकि वनस्पति में यह गुण पाया जाता है कि वह कट कर दूसरी जगह लगाई जाय और जीवित रहे, परन्तु कोई जन्तु कट कर जीता नहीं रहता। इस व्यापक नियम के माफ़िक मानेर, यमोवा आदि कीटाणु नहीं हैं। वे निस्संदेह वनस्पति के अन्तर्गत हैं।

वृक्ष भी उसी जगह के कटने पर जीता रहता है जहाँ उसका निज का जीवात्मा न हो, जैसे अंगुली या पैर कटने पर मनुष्य जीता रहता है। इससे मालूम होता है कि मनुष्य के जीव का निवास मात्र अंगुली में ही नहीं है। पर मनुष्य की कटी हुई अंगुली जीवित नहीं रहती और वृक्षों का कटा हुआ टुकड़ा जीवित रहता है। इससे

जाता है तो मानो उस समय उसमें अधिक पशुता होती है। इसलिये उसकी सन्धियोनि भी अधिक पशुता से भरी हुई बन्दर होनी चाहिये। पर पशु योनि से जब मनुष्य योनि में आता है तो उसमें अधिक सात्विकता होती है। इसलिये वैसे मौक़े के लिये वनमानस अर्थात् गौरेला आदि है। इसी भाँति कोई पशु जब वृक्ष योनि में जाता है तो वह नागवेल आदि के द्वारा जाता है, क्योंकि नागवेल में वनस्पतिपना अधिक है। पर यदि कोई जीव वृक्ष योनि से पशु योनि में आने वाला है तो वह मानेर, यमोवा आदि के द्वारा आयेगा, जिनमें कीटत्व अर्थात् प्राणित्व अधिक है। इसी प्रकार से प्रायः सब जातियों—सब प्राणियों—में अच्छे और बुरे दो भेद दिखाई पड़ रहे हैं और सूचित कर रहे हैं कि एक नीचे जा रहा है, दूसरा ऊँचे आ रहा है। पर कभी भी ऐसा नहीं हो सकता कि कुछ बन्दरों की औलाद स्वयं मनुष्य बन जावे और करोड़ों बन्दर अब तक बन्दर ही बने रहे। विज्ञान बतलाता है कि मैटर अर्थात्

ज्ञात होता है कि उस टुकड़े में—उस कटे हुये स्थान में—उस वृक्ष का जीव नहीं, बल्कि अन्य वृक्ष पैदा करने वाला बीज मौजूद है। वृक्ष का बीज जिस स्थान में नहीं होता उस स्थान को काट कर लगाने से वृक्ष नहीं पैदा होता। आलू की डाली से वृक्ष न होगा, पर गुलाब की डाली बीज का काम देती है। मानों आलू की जड़ में और गुलाब की डाली में ही बीज है। यही कारण है कि आलू की डाली में नहीं किन्तु जड़ में काट कर लगाने से बीज जागृत हो जाता है और उस कटे हुए टुकडे को अपनी खाद बनाकर बढ़ जाता है। इतना होते हुए भी प्रत्येक जन्तु, प्रत्येक प्राणी, प्रत्येक वनस्पति अपने शरीर के किसी न किसी विशेष स्थान के आघात से मर जाता है। वह अपने मर्मस्थान में चोट लगने से सूख जाता है। इससे ज्ञात होता है कि उसका निज का जीव भी अलग है। कोई डाल कटने पर, कोई जड़ कटने पर, कोई पत्ता तोड़ने पर मर जाता है। पर कोई पत्ते तोड़ने पर, डाल कटने पर, जड़ टूटने पर नहीं भी मरता। जिन स्थानों के आघात से नहीं मरता वे उसके बीज स्थान हो सकते हैं, जीवनस्थान नहीं और जिनके आघात से मरता है वे बीज स्थान नहीं, बल्कि जीवनस्थान हैं। क्या वीर्य (बीज) के निकलने पर कोई मरता है ? क्या बीज स्वयं वृक्ष नहीं बन जाता ? जब सृष्टि में हम एक ऐसा व्यापक सार्वभौम नियम पाते हैं तो क्यों न मानेर, यमोवा को वृक्ष मान लें। अन्यथा आत्मा के कटने का दोष आयेगा, जो 'नैनञ्छिन्दन्ति शस्त्राणि' के अनुसार असत्य है।

प्रकृति में एक ही साथ गति (Motion) दी गई है। यह ठीक भी है। यदि मोशन देने वाली शक्ति (Force) सर्वत्र है, व्यापक है, तो उसकी की हुई गति भी सर्वत्र ही हुई होगी और उस गति से बननेवाले कार्य भी सब एक साथ ही बनने शुरू हुए होंगे। तब कोई कारण प्रतीत नहीं होता कि थोड़े से बन्दर आदमी बन गये और बाकी सब बन्दर ही रहे। क्या उनको अब तक कुछ भी उनके आकार प्रकार में ह्रास अथवा विकाश करने की जरूरत नहीं हुई। हमें अफसोस है कि वैज्ञानिकों का नाम बदनाम करनेवाले वैज्ञानिकों को ऐसी २ मोटी बातें भी नहीं सूझीं।

हमारे इस योनियों, सन्धियोनियों और पुनर्जन्म के बारीक विवरण से यह बात जरूर प्रकाशित हो गई होगी कि मनुष्य किसी दूसरी योनि का विकाश नहीं है। वह स्वयं मौरूसी (पैतृक संपत्ति) तौर से मनुष्य का ही पुत्र है। पर यहाँ यह शंका जरूर होगी कि मनुष्य-शरीर से पशु योनि में जाने के लिये उसके लिङ्ग शरीर को बन्दर की योनि में जाना पड़ता है। इधर ऊपर कहा गया है कि लिङ्ग शरीरों को वही खींच सकता है जिसका जिससे समान प्रकार का सम्बन्ध है। यदि मनुष्य के लिङ्ग शरीर को बन्दर खींच सकता है तो निश्चय ही बन्दर* का मनुष्य के साथ मिश्र योनिज जाति का सा—हिरन बकरी का सा—सम्बन्ध होता। किन्तु इसका उत्तर हमने पहिले ही दे दिया है, जिसको यहाँ फिर दोहरा दें। मनुष्य के जीते ही जी उसके कर्मानुसार बाह्य आकृति से लेकर लिङ्गशरीर पर्यन्त परिवर्त्तन हो जाता है। जब मनुष्य पशुयोनि में जानेवाले कर्म करता है, तो जीते ही जो उसका लिङ्गशरीर बन्दर की शकल का हो जाता है जिसको बन्दर आसानी से खींच लेता है। बन्दर बंदर के ही रूप को खींचता है मनुष्य के रूप को नहीं। तात्पर्य यह कि प्राणियों की सन्धियों में जो एक रूपता है वह मरने के बाद पुनर्जन्म का मार्ग सरल करने के लिये है, न कि इसी जन्म में मिश्र योनिज वंश स्थापन करने के लिये। अतः आशा है कि

---

* बन्दर कर्मयोनि नहीं है। इसलिये उसके भीतर रहा हुआ जीव अधिक मलिन होकर अपने लिंग शरीर के रूप से नीचे गिरता चला जाता है।

कोई विद्वान सन्धियोनियों को देख कर व्यर्थ भ्रम में न पड़ेंगे।

विकाशवादवालों के दिलों पर यह शंका भी होती होंगी कि अकस्मात् कैसे मनुष्यादि शरीरवाले अनेक प्राणी सृष्टि की आदि में अनायास अपने अपने रूप में निकल पड़े होंगे। हम कहते हैं इस में घबराने की बात नहीं है। सावधान होकर सृष्टि को देखिये, वह आप जवाब दे देगी। बरसात में बीरबहूटी, केंचुए*, मेंढक आदि कैसे उसी रूप में पैदा हो पड़ते हैं जिसमें वे सैकड़ों वर्ष पूर्व से हर साल बरसात में पैदा होते आये हैं ? उनको क्रमक्रम विकाश की जरूरत क्यों नहीं होती† ? मेंढक तो ऐसा विचित्र जन्तु है और अपने जन्म का ऐसा सुन्दर नाटक दिखलाता है कि लोग दंग रह जाते हैं। किसी मेंढक का चूर्ण बनाकर और बारीक कपड़े से छानकर शीशी में बन्द कर लीजिये। बरसात में उस चूर्ण को पानी बरसते समय जमीन पर डाल दीजिये। तुरन्त ही छोटे छोटे मेंढक कूदने लगेंगे। इनको क्रमक्रम उन्नति की क्यों दरकार नहीं होती ? आज जब सृष्टि में इतने दिन हो जाने पर भी इतना बल मौजूद है कि वह हर साल बरसात में एक एक फुट और डेढ़ डेढ़ फुट के कीड़े—केंचुये—बिना माता पिता के पैदा कर सकती है तो क्या अरबों वर्ष पूर्व जब सृष्टि में पूर्ण बल मौजूद था, तब वह इस पाँच फीट लम्बे कीड़े—मनुष्य—को उत्पन्न करने में असमर्थ हो सकती है ? कभी नहीं। अतः यह निश्चय है—निर्विवाद है—निशंसय है कि आदि सृष्टि

---

* केंचुए कभी कभी डेढ़ दो फुट के भी देखे गये हैं। ये ज़मीन पर ११-१२ दिन में तैयार होते हैं। १—पहिले ज़मीन ऊँची होती है; २—गोल होती है; ३—कठिन होती है; ४—रंग बदलती है; ५—चमकती है; ६—जमीन से लगाव छूट जाता है; ७—वृद्धि होती है; ८—रंग बदलता है; ९—वृद्धि होती है; १०—चैतन्यता होती है; ११—गति होती है; १२—रेंगने लगते हैं।

† विकाशवाद का यह भी सिद्धान्त ग़लत है कि सृष्टि आप से आप जीने योग्य प्राणियों का चुनाव करती है। यह सिर्फ़ व्यक्तिगत हो सकता है, जातिगत नहीं। सम्भव है कोई व्यक्ति निर्बल होने के कारण मर सकता है, पर कोई जाति की जाति निर्बल होने के कारण मर नहीं सकती। वह अपने समय पर मरती है और फिर अपने समय पर पैदा होती है। क्योंकि उसकी अवधि ही उतनी है।

में मनुष्य इसी प्रकार का हुआ, जिस प्रकार का अब है और होना भी तो चाहिये था। क्योंकि पूर्व सृष्टि में जिनको मनुष्य शरीर के सुख दुःख भोगने को बाकी रह गये थे उन्हें मनुष्य बनाना ही तो न्याय था। यदि कोई मनुष्य दिन समाप्त हो जाने पर रात्रि आ जाने के कारण सो जाय तो क्या दूसरे दिन प्रातःकाल उसे मनुष्य के ही रूप में न जागना चाहिये ? अवश्य मनुष्य रूप में ही जागना चाहिये। बस ठीक इसी भाँति आदि सृष्टि में भी कर्मानुसार अमैथुनी सृष्टि द्वारा प्रथम मनुष्यों की सृष्टि हुई।

उपरोक्त विषय में हम कुछ योरोपीय और भारतीय विद्वानों के भी प्रमाण देते हैं। प्रोफेसर मैक्समूलर Chips from A German Workshop, Vol. 1, में लिखते हैं कि 'हमें इस बात के चिन्तन करने का अधिकार है कि करोड़ों मनुष्यों के हो जाने के पहिले आदि में थोड़े ही मनुष्य थे। आज कल हमें यह बतलाया जाता है कि यह कभी नहीं हो सकता कि पहिले पहिल एक ही मनुष्य उत्पन्न हुआ हो। एक समय था जब कि थोड़े ही आदि पुरुष और थोड़े ही आदि स्त्रियां उत्पन्न हुई थीं'।

मद्रास हाईकोर्ट के भूतपूर्व जज न्यायमूर्ति टी. एल. स्ट्रैंज महोदय ने तो अपनी पुस्तक The Development of Creation On Earth में स्वीकार किया है कि 'आदि सृष्टि अमैथुनी होती है और इस अमैथुनी सृष्टि में उत्तम और सुडौल शरीर बनते हैं'।

अमैथुनी सृष्टि का विषय हमारे मान्य ग्रन्थों में इस प्रकार है। वैषेशिक ४।२।५ में लिखा है कि—

'तत्र शरीरं द्विविधं योनिजमयोनिजञ्च'।

अर्थात् दो प्रकार के शरीर होते हैं। योनिज और अयोनिज, जिनको हम मैथुनी और अमैथुनी सृष्टि कहते हैं। उपरोक्त सूत्र की व्याख्या गौतम जी ने प्रशस्तपाद में इस प्रकार की है—

'तत्रायोनिजमनपेक्षित शुक्रशोणितं देवर्षीणां शरीरं
धर्मविशेषसहितेभ्योऽणुभ्यो जायते'।

इन वचनों में अमैथुनी सृष्टि का यह निर्वचन किया है कि अयोनिज शरीर रजवीर्य के विना ही होते हैं। यही बात पुरुष सूक्त के निम्नोक्त वचन से स्पष्ट होती है कि—

'तेन देवा अयजन्तसाध्याऋषयश्च ये'।

अर्थात् आदि में देव, साध्य और ऋषि परमात्मा से ही हुए।

संसार के निम्नलिखित प्रचलित सम्वतों से सावित होता है कि मनुष्य आरम्भ सृष्टि से ही—अमैथुनी सृष्टि के समय से ही—इस आकार प्रकार का है—

आदि सृष्टि से संकल्प सम्वत्	..	..	१९७२९४००३८
वैवस्वत मनु से आर्य सम्वत्	..	..	१२०५३३०३८
चीन के प्रथम राजा से चीनी सम्वत्	..	..	९६००२४३७
खता के प्रथम पुरुष से खताई सम्वत्		..	८८८४०३०९
पृथिवी की उतपत्ति का चाल्डियन सम्वत्		..	२१५००००८
ज्योतिष विषयक चाल्डियन सम्वत्	..	..	४७०००८
ईरान के प्रथम राजा से ईरानियन सम्वत्		..	१८९९१६
आर्यों के फिनीशिया जाने के समय से फिनीशियन सम्वत्			३०००८
इजिप्ट जाने के समय से इजिप्शियन सम्वत्		..	२८५९०
किसी विशेष घटना से इबरानियन सम्वत्		..	५९५०
कलि के आरंभ से कलियुगी सम्वत्	..	..	५०३८
युधिष्ठिर के प्रथम राज्यारोहण से युधिष्ठिरीय सम्वत्	..		४०९३
मूसा के धर्म प्रचार से मूसाई सम्वत्	..	..	३५०४
ईसा के जन्म दिन से ईसाई सम्वत्	..	..	१९३७

हम देखते हैं कि आज भी ब्राह्मण आदि उपरोक्त संकल्प सम्वत्, आर्य सम्वत् और कलियुगी सम्वत् में हर रोज एक दिन बढ़ाकर गिनती ठीक रखते हैं, जिससे इन सम्वतों में एक दिन की भी ग़लती की सम्भावना नहीं है। इससे यह साबित होता है कि करोडों वर्ष पूर्व भी मनुष्य मनुष्य ही था।

यदि इन समयों के पूर्व मनुष्य मनुष्य न होता, तो इन संवतों की—रोजनामचों की—गिनती कैसे शुरू होती और कैसे आज तक जारी रहती।

यहां तक हमने सृष्टि नियमों और विज्ञान के गूढ़ रहस्यों, प्राणी धर्मशास्त्र और वनस्पतिशास्त्र के धर्मों के साथ साथ योरोपीय और भारतीय मान्य पण्डितों के अनुमोदन, समर्थन तथा संसार के प्रचलित सम्वतों के (रोजनामचों के) साथ पहिले प्रश्न का उत्तर देते हुए साबित किया कि आदि सृष्टि में मनुष्य मनुष्य ही पैदा हुआ था और मनुष्य का पिता मनुष्य ही था। साथ ही साथ यह भी दिखलाया कि विकाशवाद या डारविन थियरी के मतानुसार सृष्टिशृंखला सिद्ध नहीं होती।

आदि सृष्टि में मनुष्य सृष्टि किसी एक ही स्थान पर हुई अथवा पृथ्वी के भिन्न भिन्न भागों में? इस दूसरे प्रश्न का उत्तर अब देते हैं और दिखलाते हैं कि आदि में मनुष्य सृष्टि एक ही स्थान पर हुई।

नदी के सूख जाने पर जिस प्रकार रेत में कोई वृक्ष आप ही आप नहीं उग निकलता और न समुद्र में भाठा हो जाने पर बालू से दरख्त उगता हुआ देखा गया है, इसी प्रकार हम सृष्टि में बड़े गौर से देखते हैं कि जब कोई नई भूमि समुद्र के पेट से बाहर निकलती है और रेत के मैदानों की भाँति स्थल रूप में परिणित होती है तो उसमें तब तक कोई पदार्थ पैदा नहीं होता जब तक रेत बारीक होकर कुछ लसदार (मिट्टी) न हो जाय। लसदार हो जाने पर भी बीज आप ही आप उसमें से निकल नहीं आता, किन्तु अनेक कारणों के द्वारा प्रेरित होकर—आँधी, तूफान, पशु, मक्खी, मच्छर आदि से प्रधावित होकर—वहाँ पहुँचता है। जिन लोगों का ख्याल शायद यह हो कि कुछ दिन के बाद उस जड़ और निर्जीव रेत से ही वृक्षों के अंकुर निकलने लगते होंगे, उनका वैसा ही अनुमान है जैसा किसी ने चक्की से आटा गिरता देखकर चक्की के भीतर गेहूँ के खेतों का अनुमान किया था।

अतएव यह घटना हमें बतला रही है कि बीज आप ही आप उग नहीं निकलता, किन्तु बीज तलाश करके बड़े यत्न से किसी अनुकूल स्थान में बोया जाता है, तब पौधे तैयार होते हैं और अन्य स्थानों में लगाये जाते

हैं। यही क्रम हम रोज बगीचों में देखते हैं। माली पहिले एक क्यारी में बीज तैयार करता है। फिर वहां से पौधे लेकर सारी फुलवाड़ी में लगाता तथा काम पड़ने पर दूर देश को भी भेजता है। कहने का मतलब यह है कि बीज सर्वत्र पैदा नहीं होता, वह एक ही स्थान से सर्वत्र फैलता है। अतः इस बीज क्षेत्र न्याय से मनुष्य भी पहिले किसी एक ही स्थान में पैदा हुआ और फिर संसार भर में फला।

माली को जिस प्रकार बीज बोने के लिये दो बातें ध्यान में रखनी पड़ती हैं, उसी प्रकार मनुष्य के पैदा करने में परमात्मा को भी दो बातें ध्यान में रखनी पड़ी होंगी। माली उसी स्थान में बीज बोता है जहाँ का जलवायु उस पौधे के अनुकूल हो और उसका खाद्य बहुत मिल सके। दूसरे आंधी ओले आदि बाहरी आफतों से भी पौधे की रक्षा हो सके। इसी तरह मनुष्य भी ऐसे ही स्थान में पैदा किया गया होगा जहाँ का जलवायु उसके अनुकूल हो और उसका खाद्य उसे मिल सके तथा आँधी, तूफान, जल-स्रावन, अग्नि-प्रपात, भूकम्प और अनेक आरंभिक दुर्घटनाओं से उसकी रक्षा हो सके। अतएव यदि हम मनुष्य के मिजाज और उसके असली आहार को जान लें और किसी ऐसे स्थान का पता लगा लें जहाँ आँधी, तूफान, जल-स्रावन, अग्नि-प्रपात, भूकम्प आदि अनेक आरंभिक दुर्घटनाएँ न हो सकती हों और वह स्थान मनुष्य के मिजाज के अनुकूल और उसके खाद्य उत्पन्न करने के भी योग्य हो तो निस्सन्देह वही स्थान मनुष्य की आदि सृष्टि के योग्य होगा। मनुष्य के ही योग्य नहीं, किन्तु पशुपक्षी और वनस्पति आदि सभी प्राणियों की आदि सृष्टि के योग्य होगा। क्योंकि संसार में ऋतुएं चाहे जितनी हों पर सर्दी और गर्मी ये दो मौसम प्रधान हैं। यही कारण है कि पृथिवी भर पर दो ही प्रकार के सर्द और गर्म प्रदेश पाये जाते हैं और दोनों में प्राणियों की बस्तियाँ भी पाई जाती हैं। यहां तक कि मनुष्य, पशु, पक्षी और वनस्पति सभी पाये जाते हैं, किन्तु मनुष्य को छोड़ कर सर्द और गर्म देशों में रहने वाले पशुपक्षियों के शरीरों पर बाल अधिक वा कम होते हैं, अर्थात् सर्द देश वालों के बाल बहुत और गर्म देश वालों के कम होते हैं।

ग्रीनलैण्ड आदि शीतल देशों में पशु-पत्ती नहीं रहते, किन्तु मनुष्य और जलजन्तु पाये जाते हैं, तथापि मनुष्य के शरीर पर वाल नहीं हैं। इससे यह बात स्पष्ट हो गई कि केवल सर्द देश में रहने मात्र से ही बड़े बड़े बाल उगने नहीं लगते, बल्कि जिन जन्तुओं को बाल दिये गये हैं उनमें ही हैं और जिनको नहीं दिये गये उनमें नहीं हैं। परन्तु यह बात तो निर्विवाद है कि जो बाल वाले प्राणी हैं निस्सन्देह ठंढे देशों के लिये बनाये गये हैं और जो विना बाल वाले हैं वे गर्म देशों के लिये पैदा किये गये हैं। किन्तु स्मरण रहे कि यहां ठंढे देश से अभिप्राय ग्रीनलैंड आदि नहीं हैं जहां पशु और वृत्त होते ही नहीं, किन्तु मातदिल ठंढे देश से अभिप्राय है।

हिमालय के भेड़े (मेष), बकरे, गाय, घोड़े और अन्य जन्तुओं के बालों से पाया जाता है कि वे उसी देश के अनुकूल हैं। पर मनुष्य ग्रीनलैंड आदि देशों में (जहाँ वनस्पति तक नहीं है केवल मछली खाकर बर्फ की गुफाओं में रहना पड़ता है) न जाने कितने दीर्घकाल से बसा है और शीत के कारण उसका शरीर ठिंगना हो गया है, तब भी उसके शरीर में बालों के न उगने से प्रतीत होता है कि मनुष्य इतने ठण्ढे देशों में रहने के लिये संसार में नहीं पैदा किया गया। वह किसी विशेष २ स्थान में ही रहने योग्य है। जब मनुष्य पृथ्वी के अमुक अमुक स्थान में ही रह सकता है तो यह कल्पना निकाल देने योग्य है कि आदि सृष्टि में मनुष्य धरती भर में सर्वत्र पैदा हो सकता है।

मनुष्य का प्रधान खाद्य दूध और फल है। दूध पशुओं से और फल वृत्तों से पैदा होते हैं। इससे पाया जाता है कि मनुष्य के पहिले वृत्त और पशु हो चुके थे। मनुष्य ऐसे मातदिल देशों में रह सकता है जहाँ पशु रह सकते हों और वनस्पति उग सकती हो। पहाड़ों के सबसे ऊँचे बर्फानी स्थानों और ग्रीनलैंड आदि देशों में वनस्पति नहीं उग सकती। इसीलिये वहाँ पशु पत्ती भी नहीं रहते। इससे ज्ञात होता है कि वनस्पति और पशु पत्ती भी मनुष्य की भाँति किसी मातदिल देश के ही रहने वाले हैं। अर्थात् सारी सृष्टि किसी एक ही स्थान में पैदा हुई मालूम होती है।

इस में दो शंकायें दिखाई देती हैं। पहिली यह कि ग्रीनलैण्ड आदि में मनुष्य क्यों पाये जाते हैं। दूसरी यह कि दो प्रकार के सर्द और गर्म प्रदेशों में रहनेवाले और बालवाले और बिना बालवाले प्राणी एक ही देश में कैसे उत्पन्न हुए।

पहिली शंका के उत्तर में तो आप समझ सकते हैं कि जब मनुष्य वृक्ष और पशुओं के बिना अर्थात् दूध और फलों के बिना रही नहीं सकता और पशु बिना वनस्पति के नहीं रह सकते, तो ऐसे देश में जहाँ ये दोनों पदार्थ न न होते हों वहां मनुष्य पैदा ही नहीं हो सकता। विकाशवाद के अनुसार भी वह वहाँ पैदा नहीं हो सकता। क्योंकि मनुष्य के पहिले बन्दर होना चाहिये और बन्दर वेजिटेरियन (शाकाहारी) है। इसलिये ऐसे देश में न बन्दर रह सकता है और न मनुष्य को उत्पन्न ही कर सकता है। अतः मालूम होता है कि उन देशों के निवासी मनुष्य जल स्थल के परिवर्त्तनों या युद्धों और सभ्यता के समय प्रवासों के कारण वहाँ गये होंगे और पश्चात् सृष्टि के परिवर्त्तनों के कारण वहाँ से न आ सके होंगे। किन्तु प्रश्न यह है कि पशु-पक्षी ऐसे स्थानों में से किस प्रकार बाहर आ सकते हैं और किस प्रकार अपने अनुकूल स्थान को जा सकते हैं। इसके उत्तर में निवेदन है कि सृष्टि में जब कभी कुछ अनुकूलता प्रतिकूलता होती है तो पशु पक्षियों को मालूम हो जाता है और वे वहाँ से चले जाते हैं*।

यदि किसी जगह कोई अज्ञात कुवाँ बन्द हो और बाहर से जाहिर न होता हो और वहाँ आप भेड़ों को ले जायँ, तो भेड़ें उस कुवें के ऊपर वाली जमीन में न जायँगी। यदि उनका गोल बैठेगा तो कुए का हिस्सा छोड़ देगा

---

* जो प्राणी जिस देश के अनुकूल बनाया गया है वहाँ की भूमि, वहाँ का जल और वायु उसको खींच लेता है। हिमालय के पक्षी अपने आप वहाँ चले जाते हैं, जल जन्तु आप से आप पानी में चले जाते हैं और पशु आप से आप अपने अनुकूल जलवायु में चले जाते हैं। मसल मशहूर है कि ऊँट नाराज होता है तो पश्चिम को भागता है, क्योंकि मरू देश पश्चिम में है और ऊँट मरू देशों में सुखी रहता है। पशु अपना अनुकूल प्रतिकूल स्थान जानने में बड़े कुशल होते हैं।

इनसे भूगर्भ विद्या का बहुत सा हाल मालूम होता है। किंतु शिक्षा का भिखारी केवल यह मनुष्य ही बिना बतलाये कुछ भी मालूम नहीं कर सकता और आफत आने पर वहीं फँस जाता है।

दूसरी शंका है कि सर्द और गर्म देशों में रहनेवाले प्राणी एक ही स्थान में कैसे हुए। इसका उत्तर बड़ा ही युक्तियुक्त और सरल है। हम पहिले बतला आये हैं कि बीज किसी एक ही स्थान में बोया जा सकता है। अतः इस बृहत्सृष्टि का बीज जिससे दो प्रकार के सर्द और गर्म तासीर रखनेवाले वृक्ष और प्राणी उत्पन्न हुए हैं ऐसे ही देश में बोया जा सकता था जहाँ सर्दी और गर्मी कुदरती तौर से मिली हों और जो पृथ्वी के अन्य विभागों से अधिक ऊँचा हो। जहाँ सर्दी और गर्मी कुदरती तौर से मिलती हैं वह देश वनस्पति, पशु और मनुष्यों के मिजाज के अनुकूल तथा सब खाद्य उत्पन्न करनेवाला होता है। और सर्द गर्म दोनों देशों में जाने लायक मिजाज वाले प्राणी पैदा कर सकता है। सब से ऊँचे स्थान की जरूरत इसलिये है कि आदि सृष्टि के समय पृथिवी भर में कहीं आँधी, कहीं तूफान, कहीं ज्वालामुखी, कहीं जलप्लावन, कहीं भूकम्प, कहीं वृक्षों के जलने का कारबनगेस और कहीं वृष्टि बड़ी धूम से पड़ती है। पर जो स्थान सब से ऊँचा है न तो वहाँ पानी (जलप्लावन) आ सके न अग्निप्रपात निकल सके न भूकम्प से पृथ्वी फट सके और न वहाँ आँधी अथवा वज्रपात ही का अधिक डर रहे। अतएव आदि सृष्टि के लिये सब से ऊँचा ही स्थान उपयुक्त है। जहाँ ये दो गुण पाये जायँ अर्थात् जहाँ सर्दी गर्मी मिलानेवाला पृथ्वी भर से ऊँचा सन्धि स्थान हो बस उसी को सृष्टि का आदि स्थान समझ लें।

इस में अधिक प्रमाण देने की यद्यपि आवश्यकता नहीं है, तथापि हम यहाँ कतिपय विद्वानों के वचन उद्धृत करते हैं। डाक्टर ई. आर. एलन्स, एल. आर. सी. पी. अपनी किताब Medical Essay में लिखते हैं कि 'मनुष्य निस्सन्देह गर्म और मोअतदिल मुल्कों का रहनेवाला है, जहां कि अनाज और फल उसकी खुराक के लिये उग सकते हैं। इनसान की खाल

पर जो छोटे छोटे रोम हैं उनसे साफ मालूम होता है कि मनुष्य गर्म और मोअतदिल मुल्कों का रहनेवाला है। बड़े रोम सर्द मुल्कों के रहनेवाले मनुष्यों के नहीं होते। इससे साफ प्रकट है कि मनुष्य बर्फानी मुल्कों में रहने के लिये नहीं पैदा किया गया।' इसी प्रकार विद्वान् अलफर्ड रसल एस. एल. एल. डी. एल. एस. आदि ने Darwin The Great में भी लिखा है और ऐसा ही डाक्टर जवकिन साहब ने भी कहा है।

मशहूर सोशियलिस्ट कालचेंटर साहब कहते हैं कि 'मनुष्य मोअतदिल गर्म मुल्कों के रहनेवाले हैं, कुदरती फल और अनाज की खुराक खाते हैं और वही मुल्क उनका स्वाभाविक निवासस्थान है जहां ऐसी खुराक पैदा होती हो' *।

उपरोक्त विद्वानों की जांच भी बतलाती है कि ऐसा ही मुल्क मनुष्य का जन्म-स्थान हो सकता है जो 'गर्म मोअतदिल हो'। यह गर्म मोअतदिल वाक्य बहुत ही विज्ञान भरा है। मोअतदिल उर्दू में सम शीतोष्ण को कहते हैं। अर्थात् जहाँ सर्दी और गर्मी का मेल हो, किन्तु जहां गर्मी का हिस्सा अधिक हो वही देश गर्म मोअतदिल कहलाता है। वही देश मनुष्य का असली वतन है।

इस आदि भूमि का पता प्रोफेसर मैक्समूलर बड़ी जांफ़िशानी से जाँच कर बतलाते हैं कि मनुष्य जाति का आदि ग्रह एशिया का कोई स्थल होना चाहिये। यद्यपि उन्होंने एशिया में कोई स्थान निर्दिष्ट नहीं किया, किन्तु अपनी पुस्तकों में इसी प्रकार के विचार प्रकट किये हैं। परन्तु इन विषयों की अधिक खोज करनेवाले अमेरिकानिवासी विद्वान् डेविस Harmonia नामी पुस्तक के पाँचवे भाग में जरमनी के प्रोफेसर ओकन की साक्षी सहित इस बात का प्रतिपादन करते हैं और कहते हैं कि 'क्योंकि हिमालय सबसे ऊँचा पहाड़ है, इसलिये आदि सृष्टि हिमालय के निकट ही कहीं पर हुई'।

इन विद्वानों की साक्षी से यह बात सिद्ध हो गई कि मनुष्यों की आदि सृष्टि गर्म मोअतदिल और पृथिवी के सब से ऊँचे स्थान में हुई। साथ

* रसाले सत्य का बल २८ और कुल्लियात—पं० लेखराम "आर्यमुसाफिर"।

ही वह देश और स्थान भी मालूम हो गया कि वह देश एशिया और स्थान हिमालय है जो शीत और उष्ण को मिलाता और पृथिवो भर में सब से ऊँचा है।

अब हम संसार भर की साक्षी से सिद्ध करते हैं कि वह स्थान कौन है। मुम्बई की 'ज्ञान प्रसारक मण्डली' की प्रेरणा से फ्रामजी कावसजी हॉल में मशहूर विद्वान श्री० खुरशेदजी रुस्तमजी ने 'मनुष्यों का मूल जन्म-स्थान कहाँ था' इस विषय पर व्याख्यान दिया था। उसका सारांश यहाँ उद्धृत करते हैं—

'जहाँ से सारी मनुष्य जाति संसार में फैली उस मूलस्थान का पता हिन्दुओं, पारसियों, यहूदियों और क्रिश्चियनों के धर्म पुस्तकों से इस प्रकार लगता है कि वह स्थान कहीं मध्य एशिया में था। योरोप निवासियों की दन्त कथाओं में वर्णन है कि हमारे पूर्व राजा कहीं उत्तर में रहते थे। पारसियों की धर्म पुस्तकों में वर्णन है कि जहाँ आदि सृष्टि हुई वहाँ दस महीने सर्दी और दो महीने गर्मी रहती है। माउण्ट-स्टुअर्ट, एलफिन्स्टन, बरनस आदि मुसाफिरों ने मध्य एशिया की मुसाफिरी करके बतलाया है कि हिन्दू-कुश पहाड़ों पर दस महीने की सर्दी और दो महीने की गर्मी होती है। इससे ज्ञात होता है कि पारसी पुस्तकों में लिखा हुआ ईरानवेज नाम का मूलस्थान जो ३७° से ४०° अक्षांश उत्तर तथा ८६° से ९०° रेखांश पूर्व में है निस्सन्देह मूल स्थान है, क्योंकि वह स्थान बहुत ऊँचाई पर है। उसके ऊपर से चारों ओर नदियाँ बहती हैं। इस स्थान के ईशान कोण में बालूर्ताग तथा मुसाताग पहाड़ हैं। ये पहाड़ अलबुर्ज के नाम से पारसियों की धर्म पुस्तकों और अन्य इतिहासों में लिखे जाते हैं। बालूर्ताग से अमू अथवा आक्सस और जेक जार्टस नाम की नदियां अरत सरोवर में होकर बहती हैं। इसी पहाड़ में से इनडस अथवा सिंधु नदी दक्षिण की ओर बहती हैं। इसी ओर के पहाड़ों में से निकलकर बड़ी बड़ी नदियाँ पूर्व तरफ चीन में और उत्तर तरफ साइबीरिया में भी बहती हैं। ऐसे रम्य और शांत स्थान में पैदा हुए अपने को आर्य्य कहते थे और इस

स्थान को स्वर्ग कहा करते थे।' यह देश उत्तर इन्दुकुश से लेकर तिब्बत तक फैला था। यहीं कहीं कैलास और मानसरोवर भी था। यही कारण है कि स्वर्ग और त्रिविष्टप (तिब्बत) पर्य्याय माने गये हैं। अमरकोश में लिखा है कि

'स्वरव्ययं स्वर्ग नाक त्रिदिव त्रिदशालयाः
सुरलोको द्यो दिवौ द्वे स्त्रियां क्लीवे त्रिविष्टपम्।'

अर्थात् स्वर्ग और त्रिविष्टप (तिब्बत्) एक ही स्थान है।

दुनिया भर के विद्वानों और एतद्देशीय पण्डितों की सम्मतियों को ध्यान में रखकर अपने समय के सब से बड़े आर्यावर्तीय विद्वान स्वामी दयानन्द सरस्वती अपने सत्यार्थ प्रकाश में लिखते हैं कि 'आदि सृष्टि त्रिविष्टप अर्थात् तिब्बत् में हुई'। तिब्बत यथार्थ में दक्षिण की गर्मी और उत्तर की सर्दी को जोड़ता है। वह ऊँचा भी है तथा मनुष्य के मिजाज के अनुकूल और उसका खाद्य भी उपजानेवाला है। अतएव द्वितीय प्रश्न का उत्तर खतम करते हुए विद्वानों का ध्यान आकर्षित करते हैं कि आदि सृष्टि हिमालय पर ही हुई और वहीं से मनुष्य सारी पृथिवी में गये।

क्या मनुष्य कोई न कोई भाषा बोलता हुआ ही पैदा हुआ ? इस तीसरे प्रश्न के उत्तर में यद्यपि अधिक माथा मारी करना व्यर्थ है, तथापि हम कुछ दलीलें और योरोप के विद्वानों की रायें लिखेंगे। इस विषय में हम भारतवर्ष की अधिक रायें न लिखेंगे, क्योंकि यहाँ का पुराने से पुराना इतिहास, यहाँ का दर्शन और यहाँ का विज्ञान सभी एक स्वर होकर चिल्लाते हैं कि आदि सृष्टि में मनुष्य सभी प्रकार के ज्ञान, भाषा, आचार और प्रवन्ध बुद्धियों के सहित पैदा हुआ।

भाषा विषय में हम देखते हैं कि हिन्दोस्तान का बच्चा जिस प्रान्त में पैदा होता है अपने प्रान्त की ही (बङ्गला, मराठी, गुजराती, हिन्दी आदि) भाषा बोलने लगता है। प्रान्त की ही नहीं, किन्तु अपने गांव की, विशेषकर अपने घर की और ज्यों की त्यों अपनी माता की भाषा बोलता है। इसी लिये भाषा का मातृभाषा नाम पड़ा है। हिन्दोस्तान ही

में क्यों सारी पृथिवी के बच्चे अपने देश की और विशेष कर उसकी भाषा बोलते हैं जिसकी गोद में पलते हैं। हम ताज्जुब करते हैं कि हिन्दोस्तान का बच्चा अंगरेजी क्यों नहीं बोलता अथवा योरोप के लड़के संस्कृत क्यों नहीं बोलते। क्या इसका यही कारण नहीं है कि बच्चे जो कुछ सुनते हैं वही बोलते हैं ? अर्थात् बच्चों को बोली बुलवाने के लिये उनके कान के पास कुछ बोलना पड़ता है। मतलब यह कि बग़ैर सिखाये कोई भी मनुष्य बोल नहीं सकता।

बिना सिखाये हुए, सिखानेवालों की भाषा न सही, पर अपने आप ही कोई नई भाषा तो उसे जरूर बोलना चाहिये। क्योंकि बोलने का यन्त्र मुंह और उसके अन्दर सब पुरजे तो हैं। किन्तु वह कोई नई भाषा बना भी नहीं सकता। यह बात हमको तब प्रमाणित होती है, जब हम किसी जन्म बधिर की ओर ध्यान देते हैं। आपने सैकड़ों गूंगे मनुष्य देखे होंगे और उनको बहरा भी पाया होगा क्योंकि केवल गूँगे अर्थात् जिनका वाग्यन्त्र विगड़ा हो बहुत थोड़े होते हैं। प्रायः गूँगे जन्म बधिर ही होते हैं। किन्तु यह न देखा होगा कि उन्होंने कोई अपनी भाषा सारी उमर में भी बना ली हो। क्यों बहरा कोई भाषा बना नहीं सकता ? क्यों प्रत्येक जन्म बधिर गूंगा ही होता है ? इसलिये कि उसको किसी की भाषा सुनाई नहीं पड़ती। यदि कहो कि बहरे के मुखतन्तु खराब हो जाते हैं इसलिये वह नहीं बोल सकता, तो इसका भी वही अर्थ हुआ कि यदि वह सुनता तो जरूर वही सुनी हुई भाषा बोलने की कोशिश करता, किन्तु उसने सुना नहीं अर्थात् शिक्षा नहीं मिली इसी लिये काम न पड़ने के कारण यन्त्र भी खराब होगया। पर गूंगे बहरे स्कूलों में उनसे यन्त्र के सहारे बोलवा भी दिया जाता है। यह भी एक प्रबल प्रमाण है कि मनुष्य बिना शिक्षा के कोई भाषा बना नहीं सकता।

कान और मुख दुरुस्त होते हुए भी अर्थात् बिना बहरे और गूंगेपन के भी अगर किसी बच्चे को मनुष्य की भाषा सुनने को नहीं मिली, तो वह कोई भाषा बोल नहीं सकता और न आजीवन कोई भाषा बना सकता है।

बहुधा बच्चे भेड़ियों की मान्दों में पाये गये हैं। और जब कभी वे पाये गये हैं, चाहे उनकी आयु सोलह या बीस वर्ष की भी होगई हो, पर उनमें वही भेड़ियों के शब्द (गुर्राने) के अतिरिक्त शुद्ध अकार के उच्चारण करने की भी सामर्थ्य नहीं पाई गई। ये बातें मदक खाने की गप्पें नहीं हैं, किन्तु ये वे घटनायें हैं जो योरोप और एशिया तथा हिन्दोस्थान में अनेक बार हो चुकी हैं और अंगरेजी तथा हिन्दी—सरस्वती आदि—पत्रों ने अनेक बार इन पर निबन्ध लिखे हैं। थोड़े समय की बात है कि इसी प्रकार का एक मनुष्य खेतों में भेड़ियों की मान्द के आस पास चारों पाँवों से चलता हुआ देखा गया। लोग उसे पकड़ लाये और दो चार रोज गाँव में रखकर देखा कि वह सिवा मांस के न कुछ खाता था और न बोलता था। मारे डरके वह कांपता था। यह हाल देखकर लोगों ने उसे आर्य समाज के अनाथालय बरेली में पहुँचा दिया। बहुत दिन तक वह वहाँ रहा और जीता रहा। अब नहीं कह सकते कि वह वहाँ है या नहीं। कहने का मतलब यह कि उसके कान भी दुरुस्त थे और मुख-यन्त्र भी ठीक था, पर वह कोई नई भाषा बना नहीं सका।

प्रोफेसर मैक्समूलर कहते हैं कि मिश्र के बादशाह सामीटीकस ने दो सद्यः प्रसूत बालकों को गड़रिये के सुपुर्द किया और ऐसा प्रबन्ध किया कि उनको पशुओं के अतिरिक्त मनुष्यों की भाषा सुनने को न मिले। जब लड़के बड़े हुए तो देखा गया कि उनको कूं, कां के अतिरिक्त कुछ भी बोलना नहीं आता था। इसी प्रकार सवावीन, द्वितीय फ्रेडरिक, चतुर्थ जेम्स और अकबर शाह आदि ने भी परीक्षार्थ बच्चों को मनुष्य की भाषा से पृथक् रखकर देखा, पर अन्त में यही पाया कि मनुष्य बग़ैर सिखाये भाषा सीख नहीं सकता*।

पर डार्विन और उसके सहयोगी हक्सले, विजविड और कोनिनफार ने इस बात के सिद्ध करने की चेष्टा की है कि भाषा ईश्वर का दिया हुआ उपहार नहीं है। भाषा शनैः शनैः ध्वन्यात्मक शब्दों और पशुओं की बोली से उन्नति

* The Science of the Language, P. 481.

करके इस दशा को पहुँची है। किन्तु डारविन के इस मन्तव्य का प्रबल खण्डन प्रोफेसर नायर ने उसी समय किया और मैक्समूलर भी इस विषय में डार्विनादि के प्रतिपक्षी हैं। वे कहते हैं कि 'मनुष्य की भाषा ध्वनि अथवा पशुओं की बोली से नहीं बनी'। प्रोफेसर पाट भी बड़ी उत्तमता से डारविन के सिद्धान्त का खण्डन करते हुए बतलाते हैं कि 'भाषा के वास्तविक स्वरूप में कभी किसी ने परिवर्तन नहीं किया। केवल बाह्य स्वरूप में कुछ परिवर्तन होते रहे हैं, पर किसी भी पिछली जाति ने एक धातु भी नया नहीं बनाया। हम एक प्रकार से वही शब्द बोल रहे हैं, जो सर्गारम्भ में मनुष्य के मुँह से निकले थे'।

लाक, एडम् स्मिथ, डयूगल्ड स्टुआर्ट आदि के कथनानुसार मनुष्य बहुत काल तक गूंगा रहा। संकेत और भ्रूप्रक्षेप से काम चलाता रहा। जब काम न चला तो भाषा बना ली और परस्पर संवाद करके शब्दों के अर्थ नियत कर लिये। इसका उत्तर प्रो० मैक्समूलर ने इतना मुँहतोड़ दिया है कि सुनते ही बनता है। आप फरमाते हैं कि 'मैं नहीं समझता कि बिना भाषा के उनमें परस्पर संवाद किस प्रकार जारी रह सका। क्या अर्थ नियत करने के पूर्व संवाद निरर्थक ही चला आता था * ?' इसके आगे आप कहते हैं कि 'मेरा मुख्य उद्देश यह सिद्ध करना है कि भाषा मनुष्य की बनाई हुई नहीं है। मैं

---

* मुख में बोलने के सब साधन कुदरती हैं, इस बात को मानते हुए विकाशवादी लोग कहते हैं कि पशु पक्षियों के शब्दों, नदी और समुद्र के गर्जन तथा पत्थर और लकड़ी आदि के टकराने की आवाजों से मनुष्यों ने अपने शब्द बनाये। पर इस थियरी में जो विघात आता है वह यह है कि मनुष्य के स्वभाव से प्रतीत होता है कि वह गोल बाँधकर रहनेवाला है, सिंह की भाँति अकेला रहनेवाला नहीं। ऐसी दशा में यदि पारस्परिक सम्बन्ध बढ़ाने वाला सब से बड़ा साधन भाषा न हो और उनको स्वयं भाषा बनानी पड़े तो यह बात दावे के साथ कही जा सकती है कि एक कुटुम्ब की भाषा भी प्रलय पर्यन्त कभी एक न हो। क्योंकि स्त्री यदि रोटी को कू कहे, सम्भव है पति उसे धम् कहे और लड़का उसी को चूँ चूँ कहने लगे। अब आगे चलकर कू, धम् और चूँ चूँ में से (कम से कम एक कुटुम्ब में) रोटी के लिये कौनसा रूढि किया जाय? इस जरूरी विषय के निबटेरा पाने

अफलातून से सहमत हूँ कि शब्द अनादि काल से बने बनाये हैं। बल्कि उसमें इतना और जोड़ देना चाहता हूँ कि शब्द अनादि काल से बने बनाये हैं और वे ईश्वर की ओर से हैं *।

भाषा ईश्वरदत्त है इस विषय में ऋषि कहते हैं कि—

'सर्वेषां तु स नामानि कर्म्माणि च पृथक् पृथक्।

वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संज्ञाश्च निर्ममे'। मनु० १-२१।

अर्थात् सृष्टि की आदि में परमात्मा ने वेदों से सब के नाम, कर्म्म और व्यवस्था अलग २ निर्म्मित किया।

'तपो वाचं रतिं चैव कामं च क्रोधमेव च।

सृष्टिं ससर्ज चैवेमांस्स्रष्टुमिच्छन्निमाः प्रजाः'। मनु० १-२५।

अर्थात् प्रजा उत्पन्न करने की इच्छा करने वाले (परमात्मा) ने तप, वाणी, रति, काम तथा क्रोध को उत्पन्न किया। वेद स्वयं कहते हैं कि—

'यथेमां कल्याणीमावदानि जनेभ्यः'।

जिस प्रकार मैंने कल्याणकारी वाणी मनुष्यों को दी है।

मनुष्य बिना नैमित्तिक ज्ञान पाये यदि अपने स्वाभाविक दशा में रक्खा जाय तो वह उसी प्रकार का हो सकता है जैसा अभी का पैदा हुआ बच्चा। वह खाने के लिये मुँह चलाना, पीने के लिये घूँटना मात्र जानता है। पर क्या खाना और क्या पीना आदि बिलकुल नहीं जानता। वह दूध पानी आदि को नहीं पहिचानता। जब तक माता स्तन को मुँह में न लगा दे तब तक वह स्तनों को भी नहीं ढूँढ़ सकता। सृष्टि की आदि में यदि इस प्रकार की पैदा हुई सृष्टि मानें, तो बरबस मानना पड़ेगा कि ऐसी मनुष्य सृष्टि

का कोई भी साधन उन तीनों में नहीं पाया जाता। कैसे एक अपने पक्ष का मंडन और दूसरे का खण्डन करके अमुक इशारा ही रोटी के लिये जोर दे और कैसे दूसरा उसका अनुमोदन व विरोध करे? अतएव मानना पड़ेगा कि उनके पास शब्द और अर्थ दोनों थे अर्थात् उनके पास पूर्ण सार्थक भाषा विद्यमान थी।

* The Science of the Language.

बिना माता पिता के एक दिन भी जी नहीं सकती। क्योंकि हम देखते हैं कि पलक मारना, छींकना, खांसना, श्वास लेना, जम्हाना, रोना, हँसना, चलबलाना, घूंटना आदि ही मनुष्य का स्वाभाविक ज्ञान है। इसके अतिरिक्त यह पानी है, यह दूध है, यह स्तन है, यह माता है आदि समस्त ज्ञान नैमित्तिक है। खड़े होना और दो पैर से चलना भी नैमित्तिक है। क्योंकि जो लड़के भेड़ियों की मांद से पाये गये हैं सब चारों पाँव से ही चलते देखे गये हैं। हाथों को मुँह में लेजाना भी नैमित्तिक है। क्योंकि मांद में पाये हुए मुँह से ही खाते पीते देखे गये हैं। हाथ से कुछ पकड़ना तो बिलकुल ही नैमित्तिक है। क्योंकि कई महीने तक तो लड़के की मुठी ही नहीं खुलती। इसी प्रकार भाषा भी नैमित्तिक है, क्योंकि मांदवाले लड़के सिवा कूं कूं के और कुछ भी बोलते हुए नहीं देखे गये। मतलब यह कि मनुष्य में जो कुछ मनुष्यता है सब नैमित्तिक और ईश्वर के निमित्त से है। कारण कि मनुष्यता मनुष्य अथवा ईश्वर से ही सीखी जा सकती है। मनुष्य को मनुष्य बनानेवाला संसार में और दूसरा कोई प्राणी नहीं है।

जो लोग पशुओं की मिसाल देते हैं कि पशु बिना सिखाये खाते पीते और जीते हैं उसी प्रकार मनुष्य ने भी क्रम क्रम उन्नति की वे ग़लती पर हैं। आज तक किसी पशु के बच्चे को उसकी माँ का स्तन तलाश करने के लिये किसी ने नहीं सिखलाया। वह पैदा होते ही खड़े होकर अपनी मां का स्तन ढूँढ़ लेता है, पर क्या कभी मनुष्य के बच्चे ने भी पैदा होते ही अपनी मां का स्तन ढूँढ़ लिया है ? नहीं। अतः उसे नैमित्तिक ज्ञान की निहायत जरूरत है।

मनुष्य की इस असली हालत से समझ सकते हो कि आदि सृष्टि में उसको कितने निहायत जरूरी नैमित्तिक ज्ञानों की आवश्यकता थी। सब से पहिले उसे खाने पीने अर्थात् जीवनयात्रा सम्बन्धी पदार्थों की पहिचान निहायत जरूरी थी। दूसरे इस अपरिचित अतएव अद्भुत सृष्टि का कुछ हाल जानना भी कम जरूरी नहीं था। तीसरे समस्त मनुष्यों से मिलकर एक दूसरे को सान्त्वना, प्रेमालाप और शंका समाधान करके उचित व्यवस्था

करने का ज्ञान भी उतना ही आवश्यक था जितना भोजन। चौथे मैं कौन हूँ, यहाँ क्यों आया, किसने भेजा, मेरा सब से अन्तिम कर्तव्य क्या है, यह ज्ञान उपरोक्त तीनों ज्ञानों से भी अधिक ज़रूरी था।

उस समय—आदि सृष्टि के समय—यदि इतना ज्ञान न दिया जाय तो मनुष्य भूख, प्यास, सर्दी, गर्मी से अपनी रक्षा न कर सके। सूर्य, चन्द्र, नदी, समुद्र, वन, पर्वत, मेघगर्जन और विद्युत तथा सिंह व्याघ्र को देखकर घबरा जाय। शादी विवाह, वंशस्थापन भी न हो सके और न अपना कर्तव्य जानकर अपने उस लक्ष्य (मोक्ष) को पहुँच सके जिसके लिये वह पैदा किया गया है। इससे ज्ञात होता है कि आदि सृष्टि के मनुष्यों में सूक्ष्म से सूक्ष्म, विस्तृत से विस्तृत और विशद से विशद ज्ञान विद्यमान था। वे सृष्टि होने का कारण जान चुके थे। उन्हें बतला दिया गया था कि—

'सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथा पूर्वमकल्पयत्'।
'शन्नो देवी रभीष्टय आपो भवन्तु पीतये'।
'ऊर्जं वहन्तीरमृतं घृतं पयः कीलालं परिस्रुतम्'।
'त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी'।
'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविशेच्छत ँ् समाः'।
'ईशावास्य मिद ँ् सर्वं'। 'समानीप्रपासहवो अन्नभागः'।
'यथेमां वाचं मावदानि जनेभ्यः'। 'संगच्छध्वं संवदध्वं'।

अर्थात् यह सूर्य चन्द्र वैसे ही हैं जैसे पहिले कल्प में थे। वह देखो जल तुम्हारे पीने के लिये है। घी, दूध, फल, शहद खाने के लिये हैं। तुम जीव हो, कर्मानुसार स्त्री पुरुष और अन्य पशुपक्षी आदि योनियों में जन्म पाते हो। कर्म करते हुए सौ वर्ष जीना। इस संसार का स्वामी ईश्वर समझना और मोक्ष प्राप्त करना तथा सब मनुष्य मिल जुलकर खाना पीना। आपस में मिल जुलकर चलो, बोलो, बात चीत करो और सबको 'मित्रस्य चक्षुषा समीक्षा महे' सबको मित्र दृष्टि से देखो। इस प्रकार का सूक्ष्म और विशद ज्ञान उनको

उसी समय दिया गया था। यह ज्ञान बिना भाषा के सहारे किसी प्रकार भी नहीं दिया जा सकता था और न बिना भाषा के यह ज्ञान स्थायी रहकर उनके वंशजों को मिल सकता था। क्योंकि हम देखते हैं कि बिना भाषा के इस प्रकार का आद्यन्त (पूर्ण) सूक्ष्म ज्ञान गूंगे-बहरे मनुष्यों को शीघ्रता से वा देर से नहीं सिखलाया जा सकता और न वह गूँगा-बहरा किसी दूसरे को ही कुछ सिखला सकता है। अतएव मानना पड़ेगा कि मूलपुरुषों को सूक्ष्म ज्ञान सिखाने और वह ज्ञान औरों में फैलाने के लिये उनको परमात्मा ने भाषा अवश्य दी।

उपरोक्त सिद्धान्त पर लोग शंका कर सकते हैं कि जिस प्रकार बिना भाषा के सूक्ष्म ज्ञान नहीं सिखलाया जा सकता उसी प्रकार बिना किसी भाषा के भाषा भी तो नहीं सिखलाई जा सकती। जब आदि सृष्टि में कोई मनुष्य किसी भाषा का बोलनेवाला था ही नहीं, तो मूल पुरुषों ने भाषा किस से कैसे सिखी ?

भाषा सिखाने के लिये मनुष्यों को मुँह की और ज़ोर से बोलने की ज़रूरत इसलिये होती है कि सब के कान और मस्तिष्क लोगों के मुँह से दूर हैं। यदि हम अपने शब्दों को किसी प्रकार दिमाग़ में पहुँचा दें तो मुँह से चिल्लाने की कुछ भी आवश्यकता न हो। आप रोज देखते हैं कि एक मेस्मरीजम करने वाला बग़ैर मुँह से बोले हुए अपने सबजेक्ट से ऐसे २ कार्य करा सकता है, ऐसी ऐसी भाषाएँ बोलवा सकता है जिनको सबजेक्ट ने कभी नहीं सीखा, कभी नहीं सुना *। तो क्या वह सर्वान्तर्यामी परमात्मा,

---

* तुम्हें मालूम है कि प्रत्येक मनुष्य अपने कर्म पार्थक्य से मन बुद्धि में एक दूसरे से न्यूनाधिक होता है। यही कारण है कि मेस्मरीजम करनेवाला सभी मनुष्यों को अपने काबू में नहीं ला सकता। वह उन्हीं पर मेस्मरीजम कर सकता है, जो उसके विश्वासी हैं। इसी तरह आदि सृष्टि के मनुष्य भी भिन्न-भिन्न स्वभाववाले होने के कारण सभी लोग परमात्मा से ज्ञान प्राप्त नहीं कर सके अथवा भिन्न-भिन्न बुद्धि होने के कारण एक समान ज्ञान नहीं ले सके। कोई सृष्टि सम्बन्धी ज्ञान प्राप्त कर सका तो कोई परमात्मा सम्बन्धी, कोई शासन सम्बन्धी तो कोई भोजनादि सम्बन्धी

जिसकी सत्ता एक एक परमाणु को प्रभावित किये हुए है, मनुष्यों के दिमाग में ज्ञान और भाषा का प्रकाश नहीं कर सकता? अवश्य कर सकता है।

यहाँ हम प्रश्नोत्तररूप से भाषा की आवश्यकता और उसके प्राप्त करने का तरीका बतलाये देते हैं।

प्रश्न—सृष्टि की आदि में भाषा की क्या आवश्यकता थी?

उत्तर—स्वयं सूक्ष्म ज्ञान सीखने और दूसरों को सिखाने के लिये।

प्रश्न—क्या बिना भाषा के सूक्ष्म ज्ञान सीखा और सिखाया नहीं जा सकता?

उत्तर—नहीं। आज तक गूंगे-बहरे को किसी ने भी सूक्ष्म ज्ञान शीघ्रता से नहीं सिखलाया और न गूँगे-बहरों ने किसी दूसरे को कुछ सिखलाया है। अतएव बिना भाषा के सूक्ष्म ज्ञान सीखा और सिखाया नहीं जा सकता।

प्रश्न—आदि सृष्टि में सूक्ष्म ज्ञान की क्या आवश्यकता थी?

उत्तर—खाने पीने के पदार्थों की पहिचान, कभी नहीं देखी हुई सृष्टि को देखकर भयभीत हुए मन की शान्ति, समाज और सन्तान की शिक्षा, प्रेम और प्रबन्ध तथा अपने कर्तव्यपालन की शिक्षा आदि के लिये आदि सृष्टि में ज्ञान की आवश्यकता थी।

प्रश्न—भाषा और ज्ञान के सिखाने की क्या आवश्यकता थी? क्या क्रम क्रम उन्नति नहीं हो सकती?

उत्तर—नहीं। यदि बिना सिखाये ज्ञान और भाषा आजाती, तो स्कूल और कालेज क्यों खोले जाते? सब लोग क्रम २ उन्नति कर न लेते?

और कोई कुछ भी नहीं। अतएव परस्पर संवाद करके एक दूसरे से लाभ उठाने का साधन यदि उनके पास भाषा न होती तो जिसे 'अग्नि मीळे पुरोहितम्' अर्थात् अग्नि का ज्ञान हुआ वह 'इषेत्वोर्ज्जेत्वा वायु' अर्थात् वायु के ज्ञानवाले को न अपना ज्ञान दे सकता और न उससे ले सकता। इसी प्रकार 'शन्नोदेवीरभीष्टय आपो भवन्तु पीतये' इस जलवाले ज्ञानी का हाल भी किसी पर विदित न होता और सब के सब अशिक्षित ही रह कर नष्ट भ्रष्ट होजाते।

प्रश्न—स्कूल विशेष ज्ञान के लिये खोले जाते हैं। उस समय तो साधारण ज्ञान की आवश्यकता थी।

उत्तर—उसी समय तो विशेष ज्ञान की आवश्यकता थी, क्योंकि सब मनुष्य एक अपरिचित स्थान में एकाएक आये थे।

प्रश्न—बिना उस्ताद और बिना उस्ताद के मुँह के भाषा और ज्ञान कैसे सिखाया जा सकता है?

उत्तर—जिस प्रकार मेस्मेरीजम करने वाला अपने सबजेक्ट से बिना सीखी हरकत और बिना सुनी हुई भाषा बोलवा देता है उसी प्रकार अन्तर्यामी परमात्मा ने भी सिखाया।

प्रश्न—मनुष्य को ही क्यों ज्ञान और भाषा सिखाने की आवश्यकता हुई?

उत्तर—यद्यपि इसका वर्णन बहुत है, तथापि साराँश रूप से यह है कि मनुष्य को मोक्ष प्राप्त करने के लिये भाषा और ज्ञान दिया गया है।

भाषा का मुख्य उद्देश्य आत्मरक्षा, सामाजिक व्यवहार और मोक्ष है। मनुष्य समाजप्रिय प्राणी है। इसलिये उसमें समाज-बन्धन दृढ करने के लिये—एक मन, एक बुद्धि, एक विचार होने के लिये—ही परमात्मा ने उसे वाणी दी है। सिवा वाणी के सार्वजनिक सामाजिक व्यवहार साधक और कोई दूसरा साधन नहीं है। जब सबको एक करने के लिये उसने यह साधन दिया, तो क्या वह साधन अनेक प्रकार का होगा? कभी नहीं। अनेक प्रकार का होना मानने से वाणी के असली अभिप्राय सार्वजनिकता पर घोर अत्याचार होता है और परमेश्वर पर आक्षेप होता है। ऐसी दशा में सब की एक ही भाषा होनी चाहिये। भाषा ईश्वरदत्त है। वह निस्सन्देह सब के लिये सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि, सर्दी, गर्मी की भाँति समान है।

हम सृष्टि नियमों और विद्वानों के प्रमाणों से सिद्ध कर आये हैं कि भाषा निस्सन्देह देवदत्त है। अतएव वह अवश्य सब की एक ही थी, तथापि हम यहाँ दो एक योरोप के भाषातत्त्व जाननेवालों की गवाही लिखे देते हैं।

योरोप में आज तक प्रो० मेक्समूलर की भाँति बहु भाषाज्ञानी कोई भी पंडित नहीं हुआ। पृथ्वी की ६०० भाषाओं को एक गहरी नजर से देखकर वह कहता है कि 'भाषाओं के बिगड़ने का कारण मनुष्य की असावधानी है'। सेमिटिक भाषाओं को आर्य भाषाओं से पृथक् बतलाता हुआ मैक्समूलर आगे चलकर कहता है कि 'आर्य भाषाओं के धातु, रूप और अर्थ सेमिटिक अरालआटक, बन्टो, और ओशीनिया की भाषाओं से मिलते हैं'। अन्त में कहता है कि 'निस्सन्देह मनुष्य की मूल भाषा एक ही थी'। इसी की पुष्टि एण्ड्रोजैक्सन डेविस Harmonia, Vol. 5 में इस प्रकार करता है कि 'भाषा भी जो एक आन्तरिक और सार्वजनिक साधन है स्वाभाविक और आदि है। भाषा के मुख्य उद्देश्य में कभी उन्नति का होना सम्भव नहीं, क्योंकि उद्देश्य सर्वदेशी और पूर्ण होते हैं। उनमें किसी प्रकार भी परिवर्त्तन नहीं हो सकता। वे सदैव अखण्ड और एक रस होते हैं'। इस विद्वान् ने आदि भाषा को एक कहते हुए यह भी सिद्ध किया कि वह पूर्ण होती है और उसके अंदर जो कुछ अर्थ वा ज्ञान होता है वह भी सर्वदेशी और पूर्ण होता है। क्योंकि शुरू में सार्वजनिक साधन वही भाषा होती है। उसमें 'सर्वसाधन' रहना ही चाहिये। लोग वेदों को इसी प्रकार सर्व विद्यायुक्त मानते हैं और इसी लिये उनका मान करते हैं। इस ने भी वही सार्वजनिक साधन की दलील देकर एक भाषा की गवाही दी है। भाषा मनुष्य को परमात्मा ने क्यों दी है इसका वर्णन पूर्व प्रकरण में आ गया है। किन्तु यहाँ कुछ स्पष्ट रीति से दिखलाना चाहते हैं। भाषा का उद्देश सार्वजनिक साधन माना गया है, क्योंकि मनुष्य समाज के बिना एक दिन जी नहीं सकता। संसार में समाज का दास मनुष्य जैसा दूसरा कोई प्राणी नहीं है। इसका कारण यह है कि वह अपना कोई भी काम बिना दूसरे की मदद कर नहीं सकता। पैदा होने के दिन से लेकर मृत्यु की घड़ी तक खेल-कूद, शादी-विवाह, धन-उपार्जन, बीमारी, तकलीफ, ग़रीबी, अमीरी आदि सभी दशाओं में इसको मनुष्य की दरकार होती है। मनुष्य के साथ सम्बन्ध दृढ करने का मात्र साधन भाषा

है। इसीलिये भाषा को सार्वजनिक नाम दिया गया है। यदि मनुष्य को मनुष्य-समाज में रहने की दरकार न हो, तो उसे वाणी की भी दरकार न होगी। सच तो यह है कि वाणी होकर भी वह किस से बोलेगा?

किन्तु विचार यह करना है कि भाषा के साथ अर्थ का क्या सम्बन्ध है। आप ज़रा ग़ौर से अपने मन में देखें तो पता लगेगा कि बोलने के पहिले आपके मन में जो कुछ विचार उत्पन्न होते हैं उन्हीं को आप बोलते हैं और प्रत्येक विचार को बाहर प्रकट करने के लिये आप पहिले ही से अपने पास शब्द पाते हैं। यदि कहीं कोई नया विचार सीखते हैं, तो वहां भी विचार और तत्सम्बन्धी शब्द दोनों नये नये एक साथ सीखते हैं। कोई विचार बिना शब्द और कोई शब्द बिना विचार के रह ही नहीं सकता। इसीलिये कहा गया है कि शब्द का अर्थ के साथ उसी प्रकार का सम्बन्ध है जिस प्रकार अग्नि और गर्मी का है। इस पर कोलरिक कहता है कि 'भाषा मनुष्य का एक आत्मिक साधन है'। जिसकी पुष्टि महाशय आर. सी. ट्रीनिच डी. डी. ने Study of Words में इस प्रकार की है कि 'ईश्वर ने मनुष्य को वाणी उसी प्रकार दी है जिस प्रकार बुद्धि दी है। क्योंकि मनुष्य का विचार ही शब्द है जो बाहर प्रकाशित होता है'। इससे ज्ञात होता है कि भाषा के साथ ज्ञान अर्थात् अर्थ का सम्बन्ध बनावटी नहीं, किन्तु स्वाभाविक और वैज्ञानिक है।

हम इस शरीर में ज्ञान और शब्द का घनिष्ट सम्बन्ध बड़ा ही विचित्र पाते हैं। यहां प्रश्न यह है कि आप ज्ञान कहां से प्राप्त करते हैं। पञ्च ज्ञानेन्द्रियों से न? आप देखें कि जहां पञ्च ज्ञानेन्द्रिय हैं उन्हीं के बीच में उस ज्ञान को बाहर निकालने वाला मुख विद्यमान है। क्यों मुख पीठ पर न बनाया गया? मैं तो कहता हूँ कि मुख अगर हाथ की हथेली पर होता तो लेक्चर देते ख़ूब बनता और भोजन करने में सुविधा होती। पर क्या मुख अपनी प्यारी सहचरी ज्ञानेन्द्रियों से कभी जुदा रह सकता है? क्या कभी ऐसा हो सकता है कि नाम और नामी अलग अलग हों? यह रचना

भी हमको एक लेक्चर सुनाती है कि ज्ञान और शब्द का स्वाभाविक मेल है।

जब कोई आदमी कोई ऐसी चीज़ खाता है जिसको पहिले उसने कभी नहीं खाया और दूसरा आदमी जब पूछता है कि कहो इस पदार्थ का स्वाद कैसा है, तो वह तब तक किसी भी शब्द द्वारा उस पदार्थ के स्वाद को नहीं समझा सकता जब तक उस पदार्थ को पूछनेवाले के मुँह में रख कर उसके स्वाद का ज्ञान न करा दे। क्या यह रहस्य हमसे यह नहीं कहता कि शब्द बिना ज्ञान के निरर्थक है ? हमें इस विषय को उस वाणी के साथ मिलाना चाहिये जो ईश्वर की ओर से दी गई है और प्रश्न करना चाहिये कि क्या वह भाषा विना ज्ञान के थी। उपरोक्त वर्णन ने सिद्ध कर दिया है कि बिना ज्ञान के वाणी निरर्थक है। परमात्मा का कोई भी काम निरर्थक हो नहीं सकता। क्योंकि उसने जब भाषा को सार्वजनिक साधन बनाकर दिया है, तो उस भाषा का कोई अर्थ अथवा उसमें कोई ज्ञान न हो तो सार्वजनिक साधन ही क्या हुआ ? क्या हू हू वा काउँ काउँ वाली भाषा से कोई सार्वजनिक काम चल सकता है ? इसलिये मानना पड़ेगा कि भाषा के साथ ज्ञान (अर्थ) का सम्बन्ध स्वाभाविक है।

जो बात हम भाषा में देखते हैं कि उसे कोई बना नहीं सकता वही बात हम ज्ञान में भी पाते हैं कि बिना सिखाये हुए कोई कुछ भी ज्ञान सीख नहीं सकता। संसार में सैकड़ों जङ्गली जातियाँ इस वक्त मौजूद हैं जो साबित बीस तक गिनती नहीं गिन सकतीं। दूसरी तरफ़ ज्योतिष, विज्ञान, कलाकौशल, गणित, भूगर्भ में लोग जमीन आसमान एक कर रहे हैं। इसका क्या मतलब है ? इतिहास बतला रहा है कि एक देश दूसरे देश से, एक जाति दूसरी जाति से और एक मनुष्य दूसरे मनुष्य से उसी प्रकार ज्ञान प्राप्त करता चला आ रहा है जिस प्रकार एक दूसरे से भाषा सीखता आता है। धर्म जैसे पारलौकिक विषय भी मनुष्य में न जाने कब से पाये जाते हैं। ईश्वर जैसा विषय जो 'सपर्य्यगाच्छुक्रमकायमव्रणम्' कहलाता है उसे भी मनुष्य जानते हैं और बड़ी ख़ूबी से साबित करते हैं,

यद्यपि किसी ने उससे मुलाक़ात नहीं की। ऐसी दशा में मानना पड़ता है कि आदि सृष्टि में ज्ञान भी परमात्मा की ही ओर से दिया गया और क्रम क्रम गुरु शिष्य परम्परा से सारे संसार में उसी प्रकार फैला जैसे भाषा फैली। इस पर योरोप में फ़िलासफ़ी आदि का प्रचारक डिस्कार्टीज लिखता है कि 'जब मैं बहुत दूर और गहराई तक सोचता हूँ तो ज्ञात होता है कि ईश्वर सम्बन्धी ज्ञान मनुष्य आप ही अपने हृदय में पैदा नहीं कर सकता। क्योंकि वह अनन्त है हमारा मन सान्त है, वह व्यापक है हम एक देशी हैं और भी इसी प्रकार समझिये। इससे यह बात स्पष्ट है कि मूल विचारों को हमने स्वयं नहीं बनाया, किन्तु परमात्मा ने आदि पुरुषों के हृदयों में उनकी छाप अपने हाथ से लगा दी है'।

इसी प्रकार मेडम ब्लेवेट्स्की अपनी पुस्तक Secret Doctrine में कहती हैं कि 'अनेक बड़े बड़े विद्वानों ने कहा है कि उस समय भी कोई नवीन धर्म प्रवर्त्तक नहीं हुआ जब आर्यों, सेमिटिकों और तूरानियों ने नया धर्म व नवीन सत्यता का आविष्कार किया था। ये धर्मप्रवर्त्तक भी केवल धर्म के पुनरुद्धारक थे, मूल शिक्षक नहीं'।

Chips From A German Workshop में तो प्रो० मैक्समूलर ने साफ़ लिख दिया है कि 'आदि सृष्टि से लेकर आज तक कोई भी बिलकुल नया धर्म हुआ ही नहीं'।

ये वाक्य हमें बतलाते हैं कि कभी कोई नवीन सचाई मनुष्य आप ही आप अपने मगज से निकाल नहीं सकता। बल्कि दोहराता अथवा पुराने ज्ञान का जीर्णोद्धार करता है। यह बिल्कुल ग़लत है कि अमुक मनुष्य ने कोई नई बात बताई व कोई नया धर्म बनाया*। आदि सृष्टि में जो ज्ञान परमात्मा ने दिया था उसी का प्रकाश घूमघामकर लौट फिर कर दुनिया

---

* एण्ड्रो जैक्सन डेविस कहता है कि 'वास्तव में कभी कोई भी मनुष्य मूल प्रकाशक नहीं कहला सकता, क्योंकि जिस प्रकार सर्वदा आदर व सत्कार का

में फैल रहा है। ऋषियों का हमेशा से क़ौल रहा है कि—

'स एव पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्'—पात० योगसूत्र।

अर्थात् वह पूर्वजों का भी गुरु है जो काल के फेर में नहीं आता अर्थात् परमेश्वर है। दूसरे ऋषि कहते हैं कि—

'शास्त्रयोनित्वात्'—वेदान्तसूत्र।

शास्त्रयोनि होने से उस (परमात्मा) की सिद्धि है। अर्थात् बिना गुरु के शास्त्रज्ञान हो नहीं सकता और आदि सृष्टि में कोई गुरु था नहीं। पर संसार में ज्ञान देखते हैं तो प्रश्न होता है कि आदि पुरुषों को ज्ञान कहाँ से हुआ। इसका यह उत्तर है कि कोई ज्ञानदाता होना चाहिये और वह परमेश्वर है।

जो ज्ञान ईश्वर का दिया हो और एक ही भाषा के द्वारा दिया गया हो उसका उद्देश्य भी महान् और एक होना चाहिये।

इस संसार में आकर मनुष्य अपने पुरुषार्थ से सब प्रकार के सुखों का आयोजन करने पर भी जब बीमारी, पुत्रबिछोह, कलह और अपनी मृत्यु पर सोचता है तो सब सुख होते हुए भी उसे महान् क्लेश होता है। वह इस क्लेश का कारण ढूंढ़ने लगता है। ढूंढ़ने पर उसे केवल यही कारण मिलता है कि न हम पैदा होते न दुःख पाते। अतः पैदा होना अथच मरना यही सारे क्लेशों का कारण है। इस सिद्धान्त के बाद वह जानना चाहता है कि मैं कौन हूँ, यहाँ क्यों पैदा हुआ, किसने पैदा किया, मरने के बाद क्या होगा। अन्त में उसे परमात्मा का ज्ञान होता है और वह निश्चय करता है कि जब तक उस अविनाशी परम पिता को प्राप्त

सिद्धान्त एक रस है और उसमें वृद्धि व ह्रास कभी नहीं होता उसी प्रकार वैज्ञानिक सिद्धान्तों या परिभाषाओं में भी कभी वृद्धि वा ह्रास नहीं हो सकता। Harmonia, Vol. 5.

न होऊँ, मोक्ष प्राप्त न करूँ, तब तक ये दुःख दूर नहीं हो सकते। बस एक मात्र इस सुख के प्राप्त करने के लिये और दूसरों को इसके योग्य बनाने के लिये उसे भाषा और ज्ञान की आवश्यकता होती है क्योंकि—

'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः'

मनुष्य मात्र का यही एक प्रयोजन पाया जाता है। अतः इसी एक प्रयोजन की सिद्धि के लिये परमात्मा ने मनुष्यों को ज्ञान और भाषा दी है। जिस प्रकार सब का एक प्रयोजन है उसी प्रकार ज्ञान और भाषा भी एक है।

आरम्भ से लेकर यहां तक यह देखा गया कि मनुष्य स्वयं कोई ज्ञान उत्पन्न नहीं कर सकता और न स्वयं कोई भाषा ही बना सकता है। अतः ये दोनों पदार्थ ईश्वरदत्त हैं। दोनों अनेक नहीं, किन्तु एक हैं और एक दूसरे से व्याप्य व्यापक सम्बन्ध रखते हैं। जहां ज्ञान है वहां शब्द है और जहां शब्द है वहां ज्ञान है। यह नियम सार्वभौम और व्यापक है। जब हम कोई ज्ञान किसी से लेते हैं तो उस ज्ञान के साथ शब्द भी आता है। इसी प्रकार जब एक देश से दूसरे देश को कोई ज्ञान जाता है तो वह शब्दों की ही थैलियों में बन्द करके भेजा जाता है। यदि आप योरोप से कोई ज्ञान लाना चाहें तो वह ज्ञान उस शब्द-थैली में बन्द होकर आयेगा। जिसकी सृष्टि उस ज्ञान के साथ साथ वहाँ हुई होगी। इस से यह भी समझ में आ जाता है कि अमुक देश में अमुक ज्ञान अमुक शब्द के द्वारा गया है। यदि योरोप देश में हम सोइंग शब्द पाते हैं तो हम कह सकते हैं कि योरोप में सीने की विद्या भारत से गई है। क्योंकि यहाँ सिव् धातु सीने के अर्थ में मौजूद है। इसी प्रकार यदि हम किसी दूसरे देश में अपने देश का कोई ज्ञान पावें तो हमें समझना चाहिये कि उसका वाची शब्द भी यहाँ से उस देश में गया होगा, चाहे उसका रूप कैसा ही बिगड़ गया हो। जैसे हम योरोप में सभा सोसाइटी करते देखते हैं और यह भी देखते हैं कि इसके लिये वहाँ कमीटी शब्द व्यवहार में आता है। यह

कमीटी क्या है। यह समिति का अपभ्रंश है। आज भी अंग्रेजी वर्णमाला के सी (स) अक्षर से वह लिखा जाता है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि वह कमीटी समिति ही है। इसलिये यह अनुमान सहज ही किया जा सकता है कि योरपवालों ने इस कमीटी (समिति) शब्द के साथ साथ यह ज्ञान हम से सीखा। इस प्रकार से हम पृथिवी भर के शब्दों और ज्ञानों के सम्बन्ध को लगाकर जब देखते हैं तो पता लगता है कि यह सारा ज्ञान और सारी भाषा किसी एक ही ज्ञान और भाषा की विगड़ी हुई सूरतें हैं।



ओ३म् ।

अक्षरविज्ञान।

दूसरा प्रकरण।

पहले प्रकरण के अन्त में कहा जा चुका है कि मूलज्ञान और मूलभाषा का पता लगाने के दो ही मार्ग हैं। एक तो शब्दों के मिलान से ज्ञान का जानना, दूसरे ज्ञान के मिलान से शब्दों का होना। अर्थात् यदि शब्द मिल जावें तो ज्ञान का अनुमान कर लिया जाय और जब ज्ञान मिल जाय तो शब्द का अनुमान कर लिया जाय। क्योंकि यह तो निर्विवाद है ही कि जिसका ज्ञान होता है उसी का शब्द होता है। ज्ञान और शब्द सदैव एक साथ रहते हैं।

किन्तु समय के फेर से जिस प्रकार भाषा अपभ्रष्ट हो गई है उसी प्रकार ज्ञान भी टेढ़ामेढ़ा हो गया है। इसके अतिरिक्त कुछ शब्द और ज्ञान लोगों ने बना भी लिया है, जैसा कि भूगोल शब्द के बारे में हुआ है। तथापि उसके प्राप्त करने का मार्ग सीधा और सरल है।

भूगोल शब्द ग्लोब बनकर जब योरोप गया था तब यहाँ भी पृथ्वी गोल मानी जाती थी और वहाँ भी। किन्तु कुछ समय के बाद दोनों देशों में भूगोल और ग्लोब (ग्लोबू=गोलबू अर्थात् गोलभू) शब्द रहते हुये भी लोग पृथ्वी को नाना प्रकार की मानने लगे। इसी प्रकार गोमेध शब्द जन्द भाषा में गोमेज बना और भारतवर्ष से लेकर ईरान तक 'अन्न ॐ हि गौ' अर्थात् अन्न व पृथ्वी अर्थ रखता रहा। पारसी धर्म-

ग्रन्थों में भी गोमेज का अर्थ अन्न उत्पन्न करने के योग्य पृथ्वी बनाना लिखा है। पर योरोप के विद्वान् और भारतवर्ष के पुराने शास्त्री एक स्वर से गोमेध का अर्थ गोवध करते हैं। इस प्रकार के परिवर्तन हमें बतला रहे हैं कि लोगों के भ्रमात्मक विश्वासों और अशुद्ध उच्चारणों से भी महा अन्धकार फैला है और भाषा बिगड़ी है।

यद्यपि मूलभाषा के बिगाड़ने तथा नई भाषा के रचने में कोई कसर बाक़ी नहीं रक्खी गयी और न पवित्र ज्ञानों को अज्ञान बनाने में लोग चूके हैं, तथापि ढूँढ़ने से संसार के ज्ञान और भाषा दोनों गवाही देने को तैयार हैं कि वे किसकी सन्तति हैं। अतः हम पहिले देखना चाहते हैं कि संसार में समस्त ज्ञान और धर्म कहाँ से गये ? ज्ञान और धर्म की उत्पत्ति कहाँ से हुई ?

यद्यपि ज्ञान की सीमा बहुत लम्बी चौड़ी है, तथापि हम ज्ञान के सब से बड़े छे विभाग करते हैं और देखते हैं कि इन छहों का उद्गम स्थान कहाँ है। (१) ज्योतिष और भूगोलशास्त्र का आविष्कार कहाँ हुआ और संसार में कहाँ से फैला ? (२) वैद्यकशास्त्र का मूल प्रचारक कौन सा देश है ? (३) राजनीति और समाजनीति (वर्णाश्रम) का आविष्कर्ता कौन है ? (४) सारे धर्मों का उद्गम क्या है और कहाँ से सारे धर्म फैले हैं ? (५) रंग और मणि मुक्ता आदि ऊँचे दर्जे के व्यापार के आविष्कारक और नाविक ज्ञान के आविष्कर्ता कौन हैं ? (६) जीव, ब्रह्म, प्रकृति, पुनर्जन्म, स्वर्ग, नर्क, मोक्ष आदि और योगादि गुप्त क्रियाओं और शक्तियों के आचार्य कौन हैं ?

आप यदि उपरोक्त प्रश्नों की गहराई में जाकर उत्तर सोचेंगे, तो इसके अन्दर दो बड़ी चमत्कारिक बातें मिलगी। एक तो यह कि बिना किसी के सहारे जिस जाति ने इन विद्याओं का आविष्कार किया होगा निस्सन्देह वह मूल जाति होगी। दूसरे यह कि बिना इन विद्याओं के कोई भी जाति दूर देशों का सफ़र नहीं कर सकती। आज जो संसार में अनेकों जातियाँ बसती हैं वे जब मूलस्थान से चली होंगी तो जरूर उपरोक्त विद्याओं के साथ

चली होंगी*। क्योंकि (१) ज्योतिष के बिना ध्रुव, सप्तर्षि, आकाश-गंगा आदि अनेक तारासमूह रात्रि को जहाजों का रास्ता नहीं बतला सकते। (२) भूगोल पृथिवी के समुद्रीय और थलीय भागों की सूचना देता है। (३) वैद्यक भिन्न भिन्न देशों के जलवायु और आहार-विहार की सुव्यवस्था रखने के लिये जरूरी है। (४) नाविक ज्ञान के बिना समुद्र के पार हो ही नहीं सकते। जब अनेक विद्याओं के अन्तर्गत इन चार विद्याओं के विना हिमालय से अफरीका, अमरीका और आस्ट्रेलिया में जाकर लोग आबाद नहीं हो सकते, तो अवश्य मानना पड़ेगा कि जिससे उन्होंने ये विद्यायें सीखी थीं उन्हींके पास से उन्हींकी भाषा बोलते हुये उन्हींके भाई अनेक स्थानों में गये। अब यदि हम इस बात का पता लगा लें कि उपरोक्त विद्याओं के आविष्कर्ता कौन हैं, तो सिद्ध हो जायगा कि संसार भर की भाषा कौन थी। इन विद्याओं के आविष्कर्ताओं के बारे में योरोप के विद्वानों की रायें हम यहाँ लिखते हैं।

ज्योतिषशास्त्र जिसमें भूगोल, खगोल दोनों शामिल हैं रेखा, अङ्क और बीजगणित के साथ साथ आर्यों से ही सब ने सीखा (देखो 'हिस्ट्री ऑफ् इन्डिया' एलफिन्स्टन साहब रचित, 'डिसकोर्सिंज' एस. डब्ल्यू. जोन्स रचित, 'एशियाटिक रिसर्चिज' भाग १२, और 'कोलब्रूक डिसर्शन्स')।

वैद्यकशास्त्र भी संसार ने आर्यों से ही सीखा (देखो 'हिस्ट्री ऑफ मेडिकल साइंस' एच. एच. टी. एस. गोंडाल रचित)।

मनु का क़ानून संसार में सबसे पुराना क़ानून है। उसीसे सबने समाजशास्त्र सीखा (देखो हफ्टन की 'स्टेटिक्स आफ हिन्दूलॉ' सर डब्ल्यू जोन्स रचित और 'हिस्टरी ऑफ इन्डिया' एलफिन्स्टन साहब रचित)।

सारे धर्मों का उद्गम वेद है (देखो 'फाउनटेन हेड ऑफ रिलीज्यन')।

रंग बनाना, रंगना और छापना सब से पहिले हिन्दुओं ने ही आविष्कृत किया था (देखो इन्टोनियो सिनसोन रचित 'प्रिन्टिंग ऑफ् कॉटन

---

* कोलम्बस भूगोल, खगोल और नाविकविद्या तथा वैद्यक के साधारण नियम अच्छी तरह जानता था, अन्यथा समुद्रपार की यात्रा कैसे कर सकता?

फ़ेब्रिक्स)। मणि मुक्ता के विषय में देखो 'प्रेशियस स्टोन्स एण्ड जेम्स' एडविन डब्लू. स्ट्रीटर एफ. आर. जी. एस. एम. ए. आई. रचित। इसी प्रकार नाविक विद्या भी आर्यों की ही ईजाद है* (देखो 'इण्डियन नेविगेशन')।

पारलौकिक विषयों में आर्यों की उच्च स्थिति का वर्णन करते हुये मैक्समूलर ने 'What Does India Teach Us' नामी ग्रन्थ में लिखा है कि 'If there is any paradise in the world I should point out to India' अर्थात् यदि पृथ्वी पर कहीं स्वर्ग है तो मैं यह कहूँगा कि वह भारतवर्ष है।

जब यह सिद्ध हो गया कि उक्त समस्त विद्यायें आर्यों की ही आविष्कार की हुई हैं† तो अब यह बात निर्विवाद हो गई कि जगत् भर की भाषा आर्यों की ही भाषा का अपभ्रंश है, क्योंकि विद्या विना भाषा अर्थात् ज्ञान विना शब्द के दूर देश जा ही नहीं सकता।

---

* आर्यों की नाविक विद्या जगत्प्रसिद्ध है। अंगरेजी का 'नेविगेशन' शब्द ही नाविक शब्द को लेकर बनाया गया है। संसार की सब से प्राचीन पुस्तक वेद में लिखा है कि—

वेदा यो वीनां पदमन्तरिक्षेण पतताम् वेदनावः समुद्रियः—ऋग्वेद।

अर्थात् (यो) जो (वीनां) पक्षियों, बादलों, तारागणादि गति करने वाले पदार्थों की (अन्तरिक्षेण पतताम्) अन्तरिक्ष से चलने वाली (पदं वेद) कला को जानता है (वेद नावः समुद्रियः) वही समुद्रीय नाविक विद्या को जानता है। यहां यह वेद मन्त्र खगोल, भूगोल और नाविक रचना का उपदेश पक्षियों तथा तारागणों के उदाहरण देकर समझाता है और एक प्रकार से विमान का भी इशारह करता है।

† आर्यों ने विद्यायें कब आविष्कृत कीं यदि यह जानना चाहते हो तो आर्ष ग्रन्थों को पढ़ो। सूर्य सिद्धान्त बने हुए २१६५००० वर्ष होते हैं। वहां भी लिखा है कि यह ज्ञान वेद से सीखा गया है। इसी तरह ऋषियों के प्रत्येक ग्रन्थ में लिखा है कि हमने जो कुछ सीखा है वह आदि सृष्टि में दिये हुये ईश्वरीय उपदेश रूपी वेदों से सीखा है। हम केवल उस ज्ञान के प्रचारक हैं। इससे ज्ञात होता है कि सारा ज्ञान आदि सृष्टि में ही मिला।

योरोपीय ऐतिहासिक बहुधा कहा करते हैं कि अमुक सन् में अमुक विद्या भारत से अमुक देश को गई। इस विषय में यह बात ध्यान रखने योग्य है कि इन सनों की हद्द अखीर चालान की बाबत है। अन्यथा इस प्रकार के अनेकों चालान धर्मप्रचार और विद्याप्रचार के इस देश से पुलस्त्य और व्यास आदि के समयों में होते रहे हैं और बौद्धों के समयों तक जारी रहे हैं। क्योंकि यहाँ के आदि राजा मनु का यह कानून था कि—

'एतद्देशप्रसूतश्च सकाशादग्रजन्मनः
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः। मनुस्मृति।

अर्थात् सारे देशों के लोग इस देश निवासियों से शिक्षा ग्रहण करें।

जेकॉलियट कहता है कि 'मैं अपने ज्ञान के नेत्रों से देख रहा हूँ कि आर्यावर्त अपनी राजनीति, अपने संस्कार, अपने आचार और धर्म मिश्र, ईरान, यूनान और रोम को दे रहा है। मैं जैमिनि और व्यास को सुकरात और अफलातून से पहिले पाता हूँ। प्राचीन भारत के महत्व का अनुभव प्राप्त करने के लिये योरोप में प्राप्त किया हुआ विज्ञान और अनुभव किसी काम का नहीं। इसलिये हमें आर्यावर्त का प्राचीन महत्व जानने के लिये ऐसा यत्न करना चाहिये जैसा कि एक बच्चा नये सिरे से पाठ पढ़ता है।' आगे चल कर जेकॉलियट यह सिद्ध करने के लिये कि ज्ञान के साथ साथ भाषा भी जाती है पृथिवी के कुछ देशों के नाम इस प्रकार बतलाता है और कहता है कि यह सब संस्कृत के नाम हैं।

वर्तमान नाम	संस्कृत नाम	अर्थ
स्पार्टन	स्पर्द्धा	मुक़ाबला
स्वीडन	सुयोद्ध	सिपाही
स्कैण्डिनेविया	स्कन्धनिवासी	स्कन्धनिवासी
नार्वे	नारावाज	मल्लाहों का देश
ओडन	योधन	योद्धा
बाल्टिक	बालार्टक	वीरों का समुद्र

निदान हम मिस्टर वाइराण्ट से सहमत हैं जो कहते हैं कि 'मिश्री, भारतवासी, यूनानी और इटलीवाले वास्तव में किसी एक ही केन्द्र से बिखरे होंगे और यही लोग अपना धर्म, आचार और विज्ञान चीन और जापान में ले गये होंगे। क्या हम यह नहीं कह सकते कि मेक्सिको (उत्तरी अमेरिका) और पीरू (दक्षिणी अमेरिका) में भी यही लोग अपनी शिक्षा ले गये ? मैं अनुमान करता हूँ कि मिश्र के पुरोहित नील से गङ्गा और यमुना को आते होंगे और यह निश्चय है कि वे यहाँ के ब्राह्मणों से ठीक उसी प्रकार मिलने के लिये आते होंगे जिस प्रकार यूनान के विद्वान् उनसे मिलने को जाया करते थे, अर्थात् विद्या ग्रहण करने के लिये*'।

'दबस्तान' का रचयिता कहता है कि 'प्राचीन ईरानियों के पूर्व पुरुष हिन्दू थे और इसमें सन्देह नहीं कि महाबाद या मनु की पुस्तक जो देववाणी में लिखी गई उस से अभिप्राय वेद का है। जरदुस्त केवल धर्म-संशोधक (रिफॉर्मर) था, ईरान के प्राचीन धर्म की जड़ तो हम भारत में पाते हैं'।

'यह अत्यन्त ही आश्चर्यजनक बात है कि पीरू (अमेरिका) निवासी जिनका पूर्व पुरुष अङ्कस था और सूर्यवंशी कहलाने का अभिमानी था अपने बड़े त्योहार को 'रामसीतव' अर्थात् रामोत्सव के नाम से पुकारते हैं। इससे हम अनुमान कर सकते हैं कि दक्षिणी अमेरिका में वही जाति निवास करती थी जो कि एशिया के दूर दूर देशों में राम के चरित्र और कथा ले गई है'।

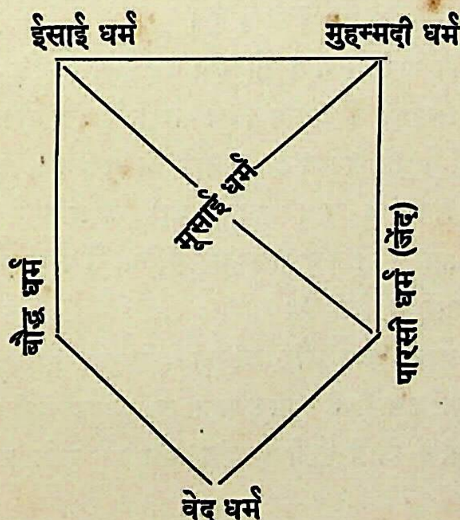
'भारत के मन्दिर और खंडहर बतलाते हैं कि अफरीका और भारत का निकट सम्बन्ध था। मिश्र के मीनारों और बुद्ध के मन्दिरों के बनाने वाले एक ही कारीगर होंगे। उन मन्दिरों पर जो अक्षर खुदे हुए हैं वे कुछ नागरी और कुछ एबीसीनिया या इथोपिया के मालूम होते हैं। इससे पता लगता है कि इथोपिया और हिन्दोस्तान एक ही वंश से सम्बन्ध रखते होंगे। इसकी पुष्टि में यह भी कहा जा सकता है कि बङ्गाल और बिहार के पहाड़ी लोग अपनी आकृति और छबि में विशेष करके ओठ और नाक की बनावट में वर्तमान एबीसीनिया वालों से बहुत कुछ समता रखते हैं।

---

* Asiatic Researches, Vol. 1, P. 268.

हिन्दू बहुत प्राचीन समय से फारिस, इथोपिया, मिश्र, फेन्शा, यूनान, टस्कनी, सीथिया गाथ, केलट, चीन, जापान और पीरू (अमेरिका) निवासियों से सम्बन्ध रखते हैं, जिससे हम कह सकते हैं कि या तो ये जातियां हिन्दुओं की बस्तियां होंगी या उन में से किसीने सब को बसाया होगा। यह हम स्पष्ट रूप से कह सकते हैं कि वे सब एक ही केन्द्र से आये होंगे। मिश्र में दो प्रकार के अक्षर थे। एक लौकिक जो भारत के प्रान्तीय अक्षरों से मिलते हैं। दूसरे वैदिक जो देवनागरी अर्थात् विशेषकर संस्कृत के अक्षरों से मिलते हैं। इङ्गलैंड के प्राचीन पुरोहित ड्रूइड और भारत के ब्राह्मण एक ही हैं। इसी प्रकार की सब बातें मिलकर सिद्ध करती हैं कि भारतवासी और चीनी भी वास्तव में एक ही हैं' *।

इसी प्रकार सभी धर्म जो इस समय पृथिवी पर फैले हैं वेदधर्म के उसी प्रकार अपभ्रंश हैं जिस प्रकार भाषा। इस समय दुनिया के बड़े बड़े छे धर्म पृथिवी पर फैले हैं। वेदधर्म, ज़न्दधर्म, मूसाई धर्म, बौद्ध धर्म, ईसाई धर्म और मुसलमानी धर्म। इन छे धर्मों का मूल क्या है इस नक़्शे से समझा जा सकता है।



* Asiatic Researches, Vol. 2, P. 379।

पारसी धर्म (जेंद) की पुस्तक गाथा में लिखा है कि 'हमारा अथर्ववेद का धर्म है'। मूसाई धर्म भी कबूल करता है कि मैंने अपना धर्म पारसी धर्म से लिया है। बौद्ध धर्म पांच यमों का प्रचार करता है जो वैदिक है। ईसाई धर्म मूसाई और बौद्ध धर्म की नकल है। इसी प्रकार मुहम्मदी धर्म पारसी, मूसाई और ईसाई धर्म के मेल से बना है और थोड़ी सी चटनी अद्वैत की पड़ गई है, जिससे मजे का 'लाइला: इल्लिल्ला:' वन गया है *।

कहने का मतलब यह कि ज्ञान, विज्ञान, क़ानून, क़ायदे और राजनीति आदि जितनी श्रौत स्मार्त (धार्मिक) सच्चाई हैं सारे संसार में यहीं से फैली हैं और सब के मूलप्रचारक आर्य ऋषि हैं। इस विषय के देशी और विदेशी इतने प्रमाण हैं कि यदि सब उद्धृत किये जायँ तो एक पुस्तक बन जाय।

आर्य शिरोमणि ऋषियों से (जो सब विद्यायों के आविष्कर्ता हैं) जब हम पूछते हैं कि भगवन्! आपने यह ज्ञान कहां से सीखा, तो समस्त ऋषि-मण्डली एक स्वर होकर कहती है कि हमने सारा ज्ञान वेदों से ही प्राप्त किया है। अतएव समस्त ज्ञान का उद्गम वेद हैं। वेदों का और आर्यावर्त का स्वाभाविक सम्बन्ध है। अतः कहना चाहिये कि सारा ज्ञान वेदों अर्थात् आर्यावर्त से ही समस्त संसार में फैला है।

जब सभी ज्ञान यहां से गया तो प्रश्न यह होता है कि वह ज्ञान किन थैलियों में, किन सन्दूक़ों में अर्थात् किन शब्दों में बन्द होकर गया। क्या ज्ञान बिना शब्दों के जा सकता है? नहीं जा सकता। तो मानना पड़ेगा कि आर्यावर्त के ज्ञान के साथ अर्थात् वेदों के ज्ञान के साथ आर्यावर्त्त की (वेदों की) भाषा में ही बन्द होकर वह दुनिया में फैला और आर्यावर्त की ही भाषा सारे संसार में फैली है।

यद्यपि जिस प्रकार ज्ञान और धर्म का शुद्ध रूप बिगाड़ डाला गया है उसी प्रकार अथवा उससे भी अधिक भाषा का आकार भी नष्ट किया गया है, तथापि जो चीज़ जैसी होती है अंग भंग हो जाने पर भी वैसी ही रहती है।

---

* Fountain Head of Religion.

पूर्व प्रकरण में मनुष्य के मूल स्थान और एक भाषा की जाँच करने में जिस प्रकार हमें कामयाबी हुई है उसी प्रकार हमें इस विषय में भी सफलता हुई है कि संसार भर में हर प्रकार का ज्ञान आर्यावर्त से ही फैला है। यद्यपि 'जहाँ २ ज्ञान तहाँ २ भाषा' इस न्याय से यह बात अभी सिद्ध हो गई है कि जब सारे संसार में वेदों से ही ज्ञान फैला तो भाषा भी वेदों से ही फैली है, तथापि हम सब की तसल्ली के लिये आगे चलकर दिखलाते हैं कि किस प्रकार से, और किन प्रमाणों से हम वैदिक भाषा को आदि भाषा—मूल भाषा—ठहराते हैं और मानते हैं। किन्तु इसके पूर्व यह दिखलाते हैं कि मूल भाषा बिगाड़ने में लोगों ने कितने कितने उपाय किये हैं।

हमको पक्का प्रमाण मिला है कि अगले समयों में राजा लोग गुप्त Political भाषा बना लिया करते थे जिसको उनके आदमियों के सिवा शत्रु दल न समझ सकता था और उसको काम में लाते थे। इसी प्रकार दूसरा राजा भी द्वेष वश उससे भी भिन्न एक तीसरी भाषा रच लेता था। इस स्पर्धा का प्रभाव सीधी, उलटी और आड़ी आदि लिपियों में पड़ा। यहाँ तक कि रस्म रिवाज भी उलटे हो गये और बायें दाहिने पर्दे तथा चोटी और डाढ़ी की पहिचान मुक़र्रर हो गई।

आज जिस प्रकार, स्पेरेंटो एक बिलकुल नयी भाषा उठ खड़ी हुई है और बड़ी शीघ्रता से संसार में फैल रही है तथा जिस प्रकार व्यापारियों में Code-words की भाषा बढ़ रही है, उसी प्रकार वैसी ही भाषाएँ पूर्व समय में भी आविष्कृत हुई थीं और राजनैतिक विषयों में काम आती थीं। जैसे कि विदुर का भेजा हुआ खनक युधिष्ठिर से कहता है कि दुर्योधन ने दुरोचन को आज्ञा दे दी है कि कृष्ण चतुर्दशी की रात्रि को लाक्षाभवन में अग्नि दे दो। अतः क्या आज्ञा है। मैं विदुर का भेजा हुआ हूँ या नहीं इसके लिये आपको याद दिलाता हूँ कि—

किञ्चिच्च विदुरेणोक्तो म्लेच्छवाचांसि पाण्डव
त्वया च तत्तथेत्युक्तमेतद्विश्वासकारणम्।

आपको विदुर ने म्लेच्छ * भाषा में कुछ कहा था, जिसके उत्तर में आपने तत्तथेति अर्थात् बहुत अच्छा ऐसा आदेश किया था। मेरे दूत होने में यही प्रमाण है। यहाँ राजनीति विषय में कृत्रिम भाषा का काम में लाना पाया जाता है।

सीता के पास पहुँचा हुआ हनुमान् सोचता है कि—

यदि वाचं प्रदास्यामि द्विजातिरिव संस्कृताम्
रावणं मन्यमानामां सीता भीता भविष्यति।

अर्थात् यदि मैं द्विजातियों की भांति संस्कृत भाषा में बोलूं तो सीता भयभीत हो जायँगी। इससे भी झलकता है कि प्रचलित भाषा के अतिरिक्त कोई गुप्त भाषा भी थी और नीति विषय में उस गुप्त भाषा की जरूरत होती थी।

ऐसी ऐसी मनमानी भाषाएं बना लेने के अतिरिक्त समय समय पर लोगों ने नवीन नवीन शब्द भी तोड़ मड़ोर कर रच लिये हैं। योरोप की भाषायें आज कल इस विषय में वड़ी ही सर्पट जा रही हैं। नया नाम रखने में जरा भी संकोच नहीं है। डाक्टरी में एक हड्डी का नाम हीरालाल बोन रख दिया गया है और मेस्मेरीजम तो मेस्मर साहव के नाम से मशहूर है। रीठे को सोपनट अर्थात् साबुन की सुपारी नाम रखकर भाषा ज्ञानियों ने बड़ी ही मनोरञ्जकता कर दी है। उधर मूल शब्दों को अपभ्रष्ट करने में प्रत्येक देश के लोगों ने कहाँ तक निष्ठुरता की है वह भी एक दो उदाहरणों से दिखलाये देते हैं।

---

* पाणिनि अपने धातुपाठ में कहते हैं कि 'म्लेच्छ अव्यक्ते शब्दे' अर्थात् अव्यक्त शब्द को म्लेच्छ भाषा कहते हैं। अव्यक्त भाषा गुप्त भाषा को कहते हैं। ऐसी भाषा मनु के समय में भी थी। लिखा है कि 'म्लेच्छवाचश्चार्यवाचः सर्वे तेदस्यवः स्मृताः'।

फारसी का हजार शब्द संस्कृत सहस्र का अपभ्रंश है। क्योंकि फारस वाले स का ह और ह का ज कर डालते हैं जैसे सप्त का हफ्त, मास का माह, बाहु का बाजू और जिह्वा का हिज्वा अर्थात् जबाँ बना डाला गया है। इसी तरह चक्र का चर्ख भी रच लिया गया है। अंग्रेजी का कर्व जो यथार्थ में संस्कृत का वक्र है किस बेरहमी से लँगडा किया गया है। सब से बड़ा अत्याचार चीन वालों ने किया है। वक्षू संस्कृत शब्द है और एक नदी का नाम है। इसको कालिदास ने रघुवंश में लिखा है। उसी शब्द को हुयेनसांग नामक चीनी यात्री ने बिगाड़ कर फोचू कर दिया है। चीनी लोग संस्कृत के नवदेवकुल को नेफोटिपोकुलो कहते हैं। इसी तरह अरबी वालों ने चरक, सुश्रुत और निदान को सरक, सरसस और वेदान कर डाला है।

जब मूल भाषा पर इस प्रकार कुल्हाड़ा चले, इस प्रकार उसकी गर्दन मरोड़ी जाय, जार शब्द उसकी गोद में इस प्रकार रक्खे जाँय और बिल्कुल नई नई भाषायें सौत की तरह उसका सर्वस्व हरण कर लें, तो भला मूल भाषा का पता जल्दी से कैसे लग सकता है? पर तलाश करने वाले भी गजब के पुतले होते हैं। हजार हाथ नीचे गड़ी हुई जमीन की चीज को भी उखाड़ लेते हैं।

महाशय जेकॉलियट ने जिस प्रकार स्वीडन आदि देशों के नाम सुयोधन आदि बतलाया है, उसी प्रकार ग्रीस (यूनान) देश के सारे भौगोलिक शब्द (Geographical terms) संस्कृत के हैं। इस बात को 'इण्डिया इन ग्रीस' नामी पुस्तक में महाशय पोकाक ने दिखलाया है तथा ईरान में शहरों और नदियों के नाम बिलकुल वैसे ही संस्कृत में रक्खे गये हैं जैसे भारतवर्ष में हैं। मैक्समूलर कहते हैं कि 'वहां (ईरान में) काशी और भूपाल नाम के शहर हैं और सूर्य नाम की नदी है'। तात्पर्य यह कि पृथ्वी भर में वेदों के शब्द भी वैसे ही पाये जाते हैं जिस प्रकार धर्म, नीति और विज्ञान पाया जाता है।

आगे चलकर हम संसार की बड़ी बड़ी सात भाषाओं के शब्दों की एक विस्तृत सूची देते हैं, जिससे बिलकुल स्पष्ट हो जाय कि वेदभाषा ही सब भाषाओं की माता है। किन्तु पूर्व इसके, एक वैज्ञानिक जांच द्वारा सिद्ध करते हैं कि संसार की सब भाषायें वेद भाषा से ही निकली हैं, क्योंकि यह तो पहिले सिद्ध हो ही गया है कि एक ही स्थान में पैदा होने से मूल पुरुषों की भाषा, आचार, नीति और धर्म एक ही था और इसी के साथ साथ उनका रूप (आकृति) और वर्ण (रंग) भी एक ही था*। इस समय दुनिया में निम्नोक्त प्रकार के चार रंग और चार रूप के मनुष्य पाये जाते हैं—

रंग (वर्ण)	रूप (आकृति)	देश
लाल	पतले	अमेरिका (रेड इण्डियन)
काले	मोटे	दक्षिण आफ्रिका
पीले	चौड़े	चीन, जापान
श्वेत	तंग (narrow)	योरोप

इन चारों रंगों और चारों रूपों को एक कर दें और देखें कितनी सुन्दर और कांति वाली मूर्ति बनती है। यह मूर्ति उसी रंग रूप के सदृश होगी जो कशमीर से लेकर अवध के हिमालय रेंज पर बसने वाले भारतवासियों में पाया जाता है। यही आदि सृष्टि के मनुष्यों का रूप होना चाहिये। यद्यपि मूल प्रकार का सत्य रूप और रंग बहुत दिन होने के कारण नहीं रह सकता, तथापि अनुमान करने के लिये आज कशमीर सारे जगत् को विवश कर रहा है। इसी प्रकार यदि संसार भर की सब भाषायें एक में मिला दी जायं, तो वही भाषा बन जायगी जो मूल भाषा थी और उस भाषा से झट मिल जायगी जो भारतवासी बोलते हैं। भारतवासी तो वैदिक भाषा का ही ज़रा सा बिगड़ा हुआ अपभ्रंश बोलते हैं।

---

* अमरेन्द्र मया बुद्ध्या प्रजा सृष्टास्तथा प्रभो
एक वर्णं समा भाषा एक रूपश्च सर्वशः। वाल्मीकिरामायण।

भारतवासियों के रंग, रूप, भाषा में अधिक फेरफार नहीं हुआ। फेरफार इस लिये नहीं हुआ कि ये अपनी मौरूसी जन्मभूमि को छोड़कर बड़े बड़े कष्ट सहने पर भी आदि सृष्टि से लेकर आज तक कहीं नहीं गये, किसी अन्य धर्म को नहीं माना और किसी दूसरी भाषा का अनुकरण नहीं किया। किन्तु सदैव सारे संसार को अपना ज्ञान सिखलाते रहे हैं।

इस सच्ची घटना से हम इस परिणाम पर पहुँच गये कि जब मूल पुरुष एक ही स्थान में पैदा हुए तो उनकी भाषा भी एक ही थी। आज संसार में जो सैकड़ों भाषायें पाई जाती हैं उसी एक की ही शाखा, उपशाखा और प्रशाखा हैं। सब में परिवर्त्तन हुआ है, किन्तु वेद भाषा को भारतवासियों ने किन किन कठिन नियमों को बनाकर जीते रक्खा है उन्हें संस्कृत के पढ़ने वाले ही जानते हैं। घन, जटा, बल्ली लगा कर कण्ठस्थ वेदपाठ इसी अभिप्राय से था कि कहीं यह कुदरती भाषा भ्रष्ट न हो जाय। एक स्वर की अशुद्धि से नर्क में जाने का कानून विद्यमान है। इसी लिये वह मूलभाषा संसार में नहीं, किन्तु अब चार पुस्तकों में सुरक्षित है।

जिन लोगों का ख्याल है कि वेद भाषा जेन्द भाषा से बहुत मिलती है, अतएव जेंद भाषा और वेद भाषा का एक ही काल है वे शराब के नशे में हैं। जेन्द और वेद के पढ़ने से जो अन्तर सुनाई पड़ता है ठीक वैसा ही है जैसा हिन्दी और उर्दू के सुनने से पाया जाता है। जेंद में जो अपभ्रष्टता मौजूद है, वह लाखों वर्ष में हो पाई होगी। इससे सिद्ध है कि वैदिक भाषा ही मूल भाषा है।

वेदों को योरोपीय विद्वान् भी संसार में सब से पुरानी पुस्तक मान चुके हैं। साथ ही यह भी मान चुके हैं कि जो कुछ ज्ञान संसार में फैला है वह भारतवर्ष के ऋषियों से ही फैला है। इधर भारतवर्ष के ऋषि कहते हैं कि हमने जो कुछ सीखा है वेदों से ही सीखा है। इस बेलाग और सच्ची साक्षी तथा उपरोक्त सम्पूर्ण वर्णन से मजबूर होकर हमें भी मानना पड़ता है कि वेद भाषा ही आदि भाषा है। किन्तु हम यह दिखलाकर ही छोड़ेंगे कि संसार की सब भाषायें वैदिक भाषा से ही निकली हैं।

योरोप के विद्वानों ने बड़ी बड़ी भाषाओं के दो विभाग किये हैं जिनके एक विभाग में आर्य भाषायें और दूसरे में सेमिटिक भाषायें कही जाती हैं। आर्य विभाग की प्रधान भाषायें संस्कृत, जेंद, फारसी और अँगरेजी हैं। अँगरेजी योरोप की सब भाषाओं से बनी है। इसके आजाने से योरोप की सब भाषायें आ जाती हैं। सेमिटिक विभाग में सब से प्रधान अरबी और हिब्रू भाषा है। इन आर्य और सेमिटिक भेदों के अतिरिक्त एक पुरानी शाखा है जिसमें चीना तुर्की आदि भाषायें समझी जाती हैं और जिसकी शाखायें जापानी तथा द्राविड़ी आदि भाषायें हैं और जिन्हें भारतवर्ष के कोल भीलों से लेकर मद्रास, लंका और आस्ट्रेलिया तक के लोग बोलते हैं। किन्तु यह शाखा आर्य और सेमिटिक दोनों से निकली हुई ज्ञात होती है। इन तीन शाखाओं के अतिरिक्त अफरीका और अमरीका के मूल वासियों की दो भाषायें और हैं, जिनके बारे में अभी ढूंढ़ तलाश जारी है। इन में से अफरीका अन्तर्गत मिश्र देश की भाषा की जाँच हो चुकी है और जो नतीजा निकला है वह हम एक विद्वान् के मुंह से नीचे कहलाते हैं।

'मनुष्य के विचारों का इतिहास भाषा की सहायता से शब्दों में भरा हुआ है। इस लिये यदि भाषा के प्राचीन ग्रह में हमारा प्रवेश हो, तो हम मनुष्य के बिलकुल प्राचीन विचारों को अच्छे प्रकार जान सकेंगे। संसार में जितनी भाषायें प्रचलित हैं सब आर्य और सेमिटिक भाषाओं के अन्तर्गत हैं। अफ्रिका की भाषाओं में इजिप्ट अर्थात् मिश्र की प्राचीन भाषा का सम्बन्ध आर्य भाषा से है अथवा सेमिटिक भाषा से इस बात का ठीक ठीक निर्णय अब तक भाषातत्ववेत्ताओं ने नहीं कर पाया, किन्तु मिश्र की भाषा का व्याकरण, सेमिटिक भाषा के व्याकरण से मिलता है और धातु आर्यभाषा की धातुओं से कुछ कुछ मिलते हैं। इससे लोग अनुमान करते हैं कि आरम्भ में आर्य और सेमिटिक भाषायें एक थीं। संस्कृत और वेदों के अध्ययन से अब यह बात सिद्ध होती आती है कि वेद सब से प्राचीन हैं। हम वेदों को ईश्वरीय ज्ञान समझते हैं। सृष्टि की उत्पत्ति के

साथ ही वह ज्ञान हमें दिया गया है। अतएव जो वेदों की भाषा है वही आर्य्य भाषा किसी समय सारे संसार की भाषा होनी चाहिये' * ।

अब रही अमेरिका देश की भाषा की बात। अमरीका के मूल निवासियों को अँगरेज लोग रेड इण्डियन † अर्थात् लाल हिन्दू कहते ही हैं। वे निस्सन्देह भारतवर्ष से घनिष्ट सम्बन्ध रखते हैं। वे अपने को सूर्यवंशी क्षत्री बतलाते हैं और हर साल रामोत्सव करते हैं जिसको वे रामसीतव कहते हैं। इससे ज्ञात होता है कि उनकी भाषा भी संस्कृत की ही अपभ्रंश शाखा है। क्योंकि वे तो इण्डियन अर्थात् भारतवासी हैं ही।

---

* यह 'भाषा' नाम का निबन्ध नागरी प्रचारिणी लेखमाला के नाम से काशी नागरी प्रचारिणी सभा ने ठाकुर सूर्यकुमार वर्मा से लिखा कर प्रकाशित किया है। लेखक महोदय ने स्वीकार किया है कि यह निबन्ध मैक्समूलरकृत 'नैचरल रिलीजन' और 'फिजिकल रिलीजन' नामी ग्रन्थों के आधार पर लिखा गया है।

† पहिले अमेरिका के यही स्वामी थे। जब से योरोपियनों ने इनका देश ले लिया है तब से इनकी बुरी दशा है। राजनैतिक अत्याचारों के कारण इनका वंश बिल्कुल नाश हो चुका है। बहुत थोड़े लोग जंगलों में पेट पालते हैं। किन्तु पहिले इनकी विद्या और सभ्यता इतनी बढ़ी हुई थी कि जिसकी तारीफ़ में मैक्समूलर ने एक लम्बा लेख लिखा है। इनका सम्बन्ध भारत से हमेशा रहा है। वेदव्यास वहाँ बहुधा जाया करते थे। एक समय का वर्णन है कि पाताल से व्यास के भेजे हुए शुकदेव मुनि भारतवर्ष को इस मार्ग से आये। महाभारत मोक्ष पर्व अध्याय ३२७ में लिखा है कि 'मेरो हरेश्च द्वे वर्षे वर्षं हैमवतं ततः। क्रमेणैव व्यतिक्रम्य भारतं वर्षं मासदत्। स देशान्विविधान्पश्यंश्चीन हूण निसेवितान्'। अर्थात् शुकदेव जी पाताल (अमेरिका) से रवाना होकर उत्तरमेरु (नॉर्थपोल), हरिवर्ष (योरोप), हिमालय, चीन और हूण होते हुए भारतवर्ष को आये। इसी तरह उद्दालक मुनि का पाताल में रहना और उलोपी की शादी अर्जुन से होना आदि बातें बतला रही हैं कि वर्तमान रेड इन्डियनों का भारत से घनिष्ठ सम्बन्ध था और उनकी भाषा आर्य भाषा है।

इस प्रकार से इन भाषाओं के (जो तीन बड़े विभागों की शाखायें हैं) जान लेने से संसार की समस्त भाषाओं का चूड़ान्त निर्णय हो जाता है। इनके अतिरिक्त पृथिवी पर और छोटी २ भाषायें वोली जाती हैं जो जल्दी से सुनने पर भिन्न मालूम होती हैं, किन्तु गौर करने से इन्हीं के अन्तर्गत आ जाती हैं। हमने इन भाषाओं से जाना है कि ये सब निस्सन्देह संस्कृत से निकली हैं। क्योंकि पृथ्वी पर एशिया, योरोप, अफ़रीका, अमेरिका और आस्ट्रेलिया ये छे बड़े बड़े विभाग हैं। इन छहों खण्डों में यही भाषायें और इनकी शाखायें बोली जाती हैं। ये वेद भाषा की बेटियाँ या पोतियाँ हैं। इसलिये वेद की ही भाषा मूल भाषा है।

समस्त भाषाओं के शब्दों का संस्कृत से मिलान करने के पूर्व हम उचित समझते हैं कि यहां पर सब के व्याकरण के स्थूल उदाहरण दिखला दें जिससे ज्ञात हो जाय कि सबका व्याकरण एक है।

हमने ऊपर बतलाया है कि समस्त भाषायें तीन महाभागों में बँटी हैं अर्थात् आर्य, सेमिटिक और तूरानी। आर्य में जेंद, लेटिन (अंग्रेजी), फारसी और संस्कृत है। सेमिटिक में हिब्रू और अरबी है तथा तूरानी में चीनी आदि भाषायें हैं।

यह बात निर्विवाद है कि प्राचीन भाषाओं में लिंग और वचन तीन तीन होते हैं। यह कौशल हम आर्य भाषाओं में देखते हैं। आर्य भाषान्तर्गत जेंद, लेटिन और संस्कृत में लिङ्ग और वचन तीन तीन हैं। सेमिटिक भाषान्तर्गत अरबी में लिङ्ग और वचन तीन तीन हैं। अरबी में जब पुल्लिङ्ग का स्त्रीलिङ्ग बनाते हैं तब संस्कृत का ही कायदा काम में लाते हैं जिससे साहब की साहिबा, मलक की मलिका और मुकर्रम की मुकर्रमा होती हैं, जैसे संस्कृत में राम की रमा और कृष्ण की कृष्णा है।

तुरानी भेद के अन्तर्गत यूरल, अलताइक, तुंगसिक, मंगोलिक, तुर्की तथा तिलगू आदि हैं। इनमें से एक शाखा 'सामोपेडिक' है जो चीन देशान्तर्गत पैतिसी तथा ओब नदी के किनारे विस्तृत रूप से बोली जाती

है। इस भाषा में संस्कृत की भांति तीन वचन और आठ विभक्तियां हैं। इस प्रकार से भाषा के इन तीनों महा विभागों के व्याकरण का एक बड़ा अंश मिलता है। अतः सिद्ध है कि संसार की सब भाषाओं का व्याकरण एक और वैदिक है।

अब संस्कृत भाषा के शब्दों के साथ सब भाषाओं के शब्दों का मिलान करते हैं, किन्तु सब से पहिले संस्कृत को वेद से भी मिला लेते हैं।

संस्कृत भाषा वेदभाषा से निकली है। संस्कृत का यह रूप कई रूप बदलने पर मिला है। जो लोग समझते हैं कि वेदभाषा और संस्कृत भाषा में कुछ अन्तर नहीं है वे गलती पर हैं। पूर्व काल में जब वदिक भाषा वोली जाती थी उसी समय विद्वान् और मूर्खों के संघट्ट, देशाटन और देशकाल आदि के कारण उस भाषा में कई शाखायें बन गईं थीं। इसका कारण यह है कि कुछ लोग गुरुकुलवास न करने के कारण व्रात्य हो गये थे। वे जाति से पतित किये गये थे और विरोधी बनकर वैदिकों से लड़ने लगे थे। अविद्वान् होने के कारण उनकी भाषा भी महा अपभ्रष्ट हो गई थी और निम्नोक्त चार शाखाओं में विभक्त हो गई थी। प्रथम वह शाखा जिससे बिगड़ कर चीन जापान की प्रशाखायें हुई हैं तथा जिसकी एक प्रशाखा का अपभ्रष्ट रूप द्रविड़ भाषा है जो मद्रास से लेकर आस्ट्रेलिया तक फैली है। द्वितीय वह शाखा जिसकी उपशाखायें संस्कृत, जेंद, लेटिन, अमेरिकन, आफ्रिकान्तर्गत मिश्र की भाषायें हैं। तृतीय वह शाखा जिसकी उपशाखायें अरबी, हिब्रू आदि सेमिटिक भाषायें हैं। चतुर्थ स्पेरेंटो अथवा कोडवर्डों की भाँति वे स्वतन्त्र भाषायें जो राजनैतिक और व्यापारिक कारणों से समय समय पर गुप्त भेदों के लिये रच ली गई थीं।

बस संसार में इन्हीं चार मार्गों से भाषाधारा का प्रवाह बहा है। इन चारों में से प्रथम शाखा बहुत गौर करने पर द्वितीय के भीतर आ जाती है और तीसरी का व्याकरण और धातु कभी मिल जाते हैं, कभी कोसों दूर

हो जाते हैं। जितना भाग मिल जाता है वह दूसरी का है, पर जितना नहीं मिलता, वह चाहे किसी भाषा के भीतर समायां हुआ हो, निस्सन्देह चौथी शाखा का है। इस तरह से सभी शाखाओं का समावेश दूसरी में हो जाता है। इस नम्बर दो की भाषाओं में से संस्कृत भाषा अपने व्याकरण-विज्ञान और धात्वर्थ सम्बन्ध के कारण वेदों के बहुत करीब कही जा सकती है। पर वह ज्यों की त्यों वेद भाषा नहीं है। इसका थोड़ा सा नमूना नीचे दिखाते हैं।

वेदभाषा का व्याकरण भिन्न है इस विषय में एक बहुत प्रसिद्ध प्रमाण देते हैं। संस्कृत में अकारान्त पुल्लिङ्ग द्विवचन में औ होता है यथा रामौ। किन्तु वेदों में होता है **'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया'**, हालांकि संस्कृत व्याकरण के अनुसार तो **'द्वौ सुपर्णौ सयुजौ सखायौ'** होना चाहिये।

वेदों में एक लकार अधिक है, जिसे लेट लकार कहते हैं। यह संस्कृत में ही क्या दुनिया की किसी भाषा में नहीं है।

वेद भाषा में एक अक्षर अधिक है, जो संस्कृत साहित्य में नहीं है। वह अक्षर ळ है और **'अग्निमीळे पुरोहितम्'** मन्त्र में आता है।

वेद भाषा अपना अर्थ स्वरों से पुष्ट करती है। यह कौशल संसार की किसी भाषा में नहीं है। जैसे आप क्रोध करके किसी से अपना रुपया माँगें और एक भिक्षुक भीख की भाँति माँगै। दोनों यद्यपि रुपया दो कहेंगे, पर स्वरों के फेर से एक में क्रोध-गर्व और दूसरे में करुणा अर्थ भरा होगा। वेद के उदात्त, अनुदात्त, स्वरित अपने सात भेदों से चुपचाप यही अर्थ कौशल करते रहते हैं।

वेदों में बहुत से शब्द जिस अर्थ में आते हैं संस्कृत में नहीं आते। यथा—

शब्द	संस्कृत अर्थ	वैदिक अर्थ
अहि	सर्प	मेघ
अद्रि	पहाड़	मेघ
गिरि	पहाड़	मेघ
पर्वत	पहाड़	मेघ
अश्मा	पाषाण	मेघ
ग्रावा	पाषाण	मेघ
वराह	शूकर	मेघ
घृताची	वेश्या	रात्रि
धारा	प्रवाह	वाणी
विप्र	ब्राह्मण	बुद्धिमान्
गौतम	ऋषि	चन्द्रमा
अहिल्या	ऋषिपत्नी	रात्रि
इन्द्र	देवराज	सूर्य
जमदग्नि	एक ऋषि	आँख

वेदों के बहुत से शब्द संस्कृत में अपभ्रष्ट हो गये हैं। यथा—

वेद शब्द	संस्कृत शब्द	अर्थ
स्याल *	श्याल	साला
सूर्प †	शूर्प	सूप
सूकर ‡	शूकर	सुवर
वसिष्ठ	वशिष्ठ	उत्तम, स्वर्ग
विकासते	विकाशते	विकसित होना
कोस	कोश	खजाना
सरल	शरल	एक वृक्ष विशेष
वेस	वेश	बाना

* ऋ. १।१०९।२. † अ. ४।६।१६. ‡ ऋ. ७।५५।४.

वेदभाषा अपने विकृत रूप से जगत्व्यापी होकर इतने काल के बाद अब भी संसार की समस्त भाषाओं में अपना दर्शन करा रही है और अपने अन्दर भी ऐसे शब्द रक्षित किये हुए है जिनको देखकर प्रतीत होने लगता है कि यह शब्द तो बाहर का सा है, जैसे जर्फरी, तुर्भरी, जङ्गिड, वज्र आदि। जर्फरी, तुर्भरी शब्द अरबी फारसी के से ज्ञात होते हैं, जङ्गिड मद्रास प्रान्त का सा शब्द मालूम होता है और वज्र चीनाई सांचे का सा शब्द है *। इस से अनुमान करना सहज है कि वैदिक काल में जो भाषा बोली जाती थी उसमें ऐसे शब्द मौजूद थे जो सेमिटिक आदिकों से मिल जायँ और यह भी संभव सा मालूम होने लगता है कि ऐसे ही शब्दबाहुल्य ने भाषा भेद भी कर दिया हो। किन्तु आज उस समय की भाषा केवल उतनी ही रह गई है जितने में ईश्वर का दिया हुआ ज्ञान वेद हैं। बाकी व्यवहारिक शब्द जिनसे लोग अनेक व्यवहार चलाते थे लुप्त हो गये अथवा अन्य भाषाओं में समा गये हैं, तथापि जिस प्रकार पुत्री को देख कर माता के पहिचानने में सुगमता होती है उसी प्रकार माता को देख कर पुत्री भी सहज में ही ज्ञात हो जाती है। आज वेदभाषा अपना रूप सब भाषाओं में और सबका रूप जर्भरी, तुर्फरी आदि शब्दों से अपने अन्दर दिखला कर बड़े जोर से घोषणा करती है कि मैं आदि भाषा हूँ, मैं ही सब भाषाओं की माता हूँ और मैं ही संसार में ज्ञान प्रकाश करनेवाली वेदविद्या हूँ।

दूसरे नम्बर पर जन्दावस्था है †। इसके बारे में लोगों ने बड़ा धोखा खाया है। उनका ख्याल है कि जिस प्रकार वैदिक धर्म की बहुत सी बातें इसमें मिलती हैं उसी प्रकार वेदों के शब्द भी मिलते हैं। अतः वेद और जंद समकालीन हैं। पर हम कहते हैं कि वेदों के नहीं, संस्कृत के भी शुद्ध शब्द नहीं, किन्तु उसके अपभ्रंश शब्द मिलते हैं। वेदों के

---

* जर्भरी और तुर्फरी ऋग्वेद १०।१०६।६ में, जङ्गिड अथर्व १९।३४।२ में और वज्र अथर्व ४।१६।२ में है।

† जन्दावस्था भाषा का नाम नहीं है, किन्तु धार्मिक साहित्य का नाम है। पर प्रचलित यही है। इसी से सुभीते के लिये हमने भी यही लिखा है।

शब्दों में और संस्कृत के शब्दों में बहुत अन्तर है। वेदों की भाषारचना विलक्षण है जैसा कि पहिले कहा गया है। इन्द्र, मित्र, वरुण, अर्य्यमा आदि शब्द मिलने से भाषा एक नहीं हो सकती। यों तो वेदों के हजारों शब्द संस्कृत में मिलते हैं तो क्या संस्कृत वेद भाषा हो जायगी? वैदिक धर्म के रहस्य भी गाथा आदि में बहुत कुछ पाये जाते हैं। इससे भी उसका वेदपना नहीं सिद्ध होता। क्योंकि वेद का सिद्धान्त तो बाइबल में भी पाया जाता है, जहाँ कहा गया है कि आदम को फल खाने को मना किया गया था। पर उसने खाया और स्वर्ग से निकाला गया। यह अक्षरशः 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते, तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति' का भाव है, जिसका मतलब यह है कि दो पक्षी वृक्ष में बैठे हैं। एक उसके फल को खाता और परिणाम भोगता है, दूसरा साक्षी मात्र होकर देखता है। ऐसे भावों अथवा शब्दों के आजाने से भाषा की एकता अथवा दोनों भाषाओं का प्रचलनकाल निर्णय नहीं होता। हम यहाँ जेन्दभाषा और वेदभाषा के दो प्रचलित महाविरे देते हैं और दिखलाते हैं कि किस प्रकार दोनों में जमीन आसमान का अन्तर है।

ज़ेन्द शब्द	वेद शब्द
विजंग्रा	द्विपादः-
चथ्वारे जंग्रा	चतुष्पदः

जन्द में जंग्रा शब्द आता है। पर वेद में पद शब्द आता है। यही हाल हम सर्वत्र देखते हैं। इसके अतिरिक्त द्वि का बि जंघा का जंग्रा चत्वारि का चथ्वार होने में क्या थोड़े दिन लगे होंगे? हम तो कहते हैं कि वेद से क्या बल्कि संस्कृत से निकलकर और न जाने कितने रूप बदलकर इस विलक्षण रूप के प्राप्त करने में जन्द को हजारों वर्ष लगे होंगे। इस भाषा का एक बड़ा श्लोक दिखलाते हैं।

'यथा अहु वइर्यो अथा रतुश अशात्
चित् हता वंहे उश दज़दा मनंहो श्क्यो थ्रिनस्

अंहेउश मज़दाई रव्षथ्रेम चा अहुराई आयिम द्रिगुव्यो ददात्
वास्तारेम नमसेते अहुरा मज़दा थ्रीश्ची परो अन्याइश दाम् ।'

इसको सुन कर क्या यह मालूम हुआ कि हम वेद सुन रहे हैं ? अथवा क्या यही ज्ञात हुआ कि हम संस्कृत सुन रहे हैं ? नहीं। तब फिर क्यों लोगों ने ऐसा हल्ला मचा दिया है कि ज़ंद और वेद समकालीन भाषा हैं ? इसलिये कि संस्कृत के शब्द बहुत से प्रत्यक्ष और बहुत से बिगड़े हुए अधिकता से मिलते हैं, जैसे ऊपरवाले श्लोक में यथा, अथ. चित्, मनं, क्षत्रेम, चा, ददात्, नमस्ते और परो बिलकुल संस्कृत के शब्द मिल गये और कई शब्द अपना रूप बिगाड़े हुए भी मिले। इस तरह से सब मिलाकर जब आधे शब्द संस्कृत के मिलते हैं, तो चालाक लोगों को वेदवाली बात कुपढ़ों के सामने कहने की हिम्मत पड़ जाती है। विशेष कर जब धार्मिक रहस्य और यज्ञ विधान देखे जाते हैं, तो और भी समझाने का मौका मिलता है। पर जिसने ज़न्द के पुराने भाग गाथा का पाठ किया है और जरदुश्त के पैगम्बर बनने का समाचार गौर से देखा है वह जानता है कि ज़न्दावस्था की भाषा और उसका धर्म वेदों की भाषा और वेद धर्म से कितना दूर हैं। किन्तु धार्मिक भावों का अधिक मिलान और भाषा की अधिक समता इस बात को बतला रही है कि जिस प्रकार हिन्दी, बङ्गाली, गुजराती और मरहठी प्रान्त भेद से अलग अलग हैं, किन्तु एक ही रूप की हैं और एक ही देश में बोली जाती हैं, उसी प्रकार भारत और ईरान एक ही देश के अन्तर्गत होने के कारण प्रान्त विभेद की भांति उस समय की संस्कृत, जेंद और प्राकृत आदि भाषायें मिली जुली बोली जाती थीं। पर वे कब जुदा हुई थीं और जिस भाषा से वे जुदा हुई थीं वह भाषा वेदभाषा से कब जुदा हुई थी आदि बातों का अन्दाजा हज़ार दो हज़ार वर्ष भीतर का लगाना भँगेड़ीपना है। हमारा विश्वास है कि ज़ेन्द को वर्तमान रूप पाने में उसे हजारों वर्ष लगे होंगे। ज़ेन्द फ़ारसी और पस्तो में आकर खतम हो गई है, तथापि अभी थोड़े से लोग उसका पुराना रूप लिये हुये

हैं। फारसी भाषा किस प्रकार वनी है यह जिसे देखना हो वह जन्दभाषा देखे। संस्कृत के शब्द किस प्रकार विगड़े हैं और क्या का क्या किस प्रकार हुआ है इस उलझन की गांठ तब सुलझती है जब सहस्र और हजार का रूप ज्ञात होता है। ऊष्ट्र और शुतुर, जिह्वा और हिज्वा का जब भेद खुलता है तब बड़ा ही मनोरंजन होता है। यद्यपि इस भाषा के शब्दों को दिखलाना कि ये संस्कृत से निकले हैं फिजूल हैं, क्योंकि लोग तो इसे वेदों की साथिनी बतलाते है, तथापि शब्दों का विकृत दृश्य देखने योग्य है तथा वेदों के साथ इसकी समता कितनी है यह भी ज्ञात हो जाता है। अतः हम यहां कुछ ऐसे ही शब्द देते हैं।

संस्कृत स ज़ेन्द में ह हो गया है।

संस्कृत	ज़ेंद	अर्थ
असुर*	अहुर	परमेश्वर
सोम†	होम	वनस्पति
सप्त	हप्त	सात
सेना	हेना	फौज

संस्कृत ह ज़ेंद में ज होगया है।

संस्कृत	ज़ेंद	अर्थ
हस्त	जस्त	हाथ
होता	जोता	आहुति डालनेवाला
आहुति	आजुति	आहुति
बाहु	बाजु	हाथ
अहि	अजि	सर्प

* असुषु प्राणेषु रमते।

† सोम को लोग शराब बतलाते हैं। पर ज़ेन्द भाषा में उसका वैदिक अर्थ वनस्पति ही लिया गया है।

संस्कृत ज ज़ेंद में ज़ होगया है।

जानु	ज़ानु	घुटना
वज्र	वज़्र	मेघवज्र
अजा	अज़ा	बकरी
जिह्वा	हिज़्वा	ज़बान

संस्कृत श्व ज़ेंद में स्प होगया है।

विश्व	विस्प	सब (संसार)
अश्व	अस्प	घोड़ा

संस्कृत श्व या स्व ज़ेंद में क होगया है।

श्वसुर	क़्सुर	ससुर
स्वप्न	क़फ़्न	सपना

संस्कृत त ज़ेंद में थ होगया है।

मित्र	मिथ्र	दोस्त
मन्त्र	मन्थ्र	श्लोक

संस्कृत भ ज़ेंद में फ होगया है।

गृभ	ग्रिफ़्त	पकड़ना
गोमेध	गोमेज़	खेती करना

ज्यों के त्यों शब्द इस प्रकार हैं।

पशु	पशु	पशु
गो	गाव	गाय
उक्षन्	उक्षन्	बैल
यव	यव	जौ
वैद्य	वैद्य	वैद्य
वायु	वायु	हवा

संस्कृत	ज़ेंद	अर्थ
इषु	इषु	बाण
रथ	रथ	गाड़ी
गान्धर्व	गान्धर्व	गानेवाले
अथर्वन	अथर्वन	यज्ञऋषि
गाथा	गाथा	पवित्र पुस्तक
इष्टि	इष्टि	यज्ञ
छन्द	जन्द	छंदसः ज्ञान, अथर्ववेद

इन शब्दों पर से समझा जा सकता है कि जहाँ सकार का हकार और हकार का जकार और श्व का स्प होना पाया जाय वह भाषा वैदिक समय की कैसे हो सकती है और कैसे वेद से Direct निकली हुई कही जा सकती है। हां, वह संस्कृत से अवश्य निकली है। संस्कृत की ही भांति उसमें अस्मि का अह्मि, असि का अहि आदि व्याकरण भी पाया जाता है। उसके ग्रन्थों में भाव भी पौराणिक समय के ही पाये जाते हैं, जैसे पृथिवी का गौ बनकर ईश्वर के पास जाना और अपनी रक्षा के लिये जरदुश्त का माँगना। यह बात ज़ेन्द की सबसे पुरानी पुस्तक गाथा के आरम्भ में लिखी है। इधर यही बातें हम पुराणों में पाते हैं। व्यास का और गाथा के रचयिता जरदुस्त का बलख़ में शास्त्रार्थ होना दसातीर नाम का ग्रन्थ बतलाता है। वहां लिखा है कि 'अकनु बिह्मणे व्यास नामज हिन्द आयद' अर्थात् एक व्यास नाम का ब्राह्मण हिन्द से आया। इससे सिद्ध होता है कि ज़ेन्दभाषा व्यास के समय की है। महाभारत के समय में व्यास का पता मिलता है। अतः ज़ेंदभाषा बहुत नवीन है। इसे वेदकालिक कहना ग़लत है। क्यों कि वेद तो व्यासदेव के लाखों वर्ष पूर्व विद्यमान थे, जिसको व्यास भी 'शास्त्रयोनित्वात्' सूत्र में कितनी इज्ज़त से शास्त्र कहते हैं।

अब फ़ारसी भाषा के शब्दों को लिखते हैं। इस देश में इस समय हिन्दू और मुसलमान दो ही प्रधान जातियां हैं। उनमें हिन्दी और उर्दू की रोज़

मारामार रहती है। हिन्दीवाले कहते हैं कि संस्कृत शब्द विशेष वाली भाषा हो और मुसलमान कहते हैं कि जिसमें फारसी के शब्द अधिक हों वही इस देश की भाषा हो। फारसी विशेष को उर्दू और संस्कृत विशेष को हिन्दी कहते हैं। हम यहाँ साथ साथ इस झगड़े को भी मेटे देते हैं। नीचे जो शब्दसमूह दिया जाता है उससे साफ प्रकट होता है कि फारसी संस्कृत की पोती है। क्योंकि यह जेंद से पहलवी होकर आई है। जब फारसी कोई दूसरी चीज़ ही नहीं है, जब फारसी केवल संस्कृत का बिगड़ा हुआ रूप है, तो फिर तकरार ही क्यों है?

संस्कृत	फारसी	अर्थ
जानु	ज़ानु	घुंटना
बाहु	बाज़ू	हाथ (हकार का ज़कार हो जाता है)
जिह्वा	ज़बां	जीभ (जेंद में हिज्वा होकर यहाँ ज़बाँ हुआ है)
अंगुष्ठ	अंगुश्त	उँगली
हस्त	दस्त	हाथ (जेंद में ज़स्त था, इसमें दस्त हुआ है)
दृष्ट	सख़्त	मजबूत, कठिन
पुष्ट	पुख़्त	मोटा, पक्का
दन्त	दन्दा	दांत
पृष्ठ	पुश्त	पीठ
पाद	पा	पैर
शिर	सर	मुण्ड
अश्व	अस्प	घोड़ा
मेष	मेश	भेड़
खर	ख़र	गधा
ऊस्ट्र	शुतर	ऊँट (फारसी में उस्तर भी पाया जाता है)
गौ	गाव	गाय
मत्स्य	माही	मछली

संस्कृत	फ़ारसी	अर्थ
श्वा	सग	कुत्ता
अहिदाहक	अज़्दहा	सांप
मूस	मूश	चूहा
शृगाल	शग़ाल	सियार
कुक्कुट	कूकडा	मुर्ग़
काक	ज़ाग़	कौवा
आप	आब	पानी
वात	वाद	वायु
पुरोहित	फरिश्ता	दूत*
तारा	सितारा	तारागण
ताप	ताव	गर्मी और प्रकाश
आपताप	आफ़ताब	सूर्य
मासताप	माहताब	चन्द्र
मास	माह	महीना (स का ह हो जाता है)
मेघ	मेह	बादल
अभ्र	अब्र	मेघ
वसिष्ठ	बहिश्त	स्वर्ग
मृत्यु (मृ)	मर्ग	मरना
चक्र	चर्ख़	चक्कर
एक	एक	एक
द्वि	दो	दो
चत्वारि	चहार	चार
पञ्च	पञ्ज	पांच

* 'अग्निमीळे पुरोहितं' 'अग्निदूतं पुरोदधे' अग्नि वायु का दूत है। वही सब हव्य-कव्य पहुँचाता है। उसी को पारसीधर्म में 'फेरेशिता' कहा गया है। मुसलमान भी फरिश्ता को आतिशी अर्थात् आग्नेय मानते हैं।

संस्कृत	फारसी	अर्थ
षट्	शश	छे
सप्त	हफ़्त	सात
अष्ट	हश्त	आठ
नव	नैः	नौ
दश	दह	दस
शत	सद	सौ
सहस्र	हज़ार	हज़ार*
क्षुद्र	खुर्द	छोटा
पितृ	पिदर	पिता
मातृ	मादर	माता
भ्रातृ	बिरादर	भाई
दुहितृ	दुख़्तर	लड़की
श्वशुर	ख़ुसुर	ससुर
श्रवण	शुनीद	सुना
दृष्टि	दीद	देखना
प्रश्न	पुरशीदन	पूछना
क्षीर	शीर	दूध
शर्करा	शकर	खांड
ताम्बूल	तम्बूल	पान
कर्पूर	काफ़ूर	कपूर
लवण	नमक	नमक
कर्ष	कश	खींचना
कुलाल	कुलाल	कुम्हार
वृक्ष	दरख़्त	झाड
शाखा	शाख़	डाली

* स का ह और ह का ज़ होने से ज़ेंद में हज़ेह हुआ था, पीछे हजार हो गया।

संस्कृत	फारसी	अर्थ
परि	बर	ऊपर (तदुपरि, बर दूकान)
गोधूम	गन्दुम	गेहूँ
माष	माश	उड़द
यव	जौ	जौ
शालि	शालि	धान
स्थान	स्तान	स्थान (जैसे हिन्दोस्तान)
नाभि	नाफ़	नाभि
अस्थि	उस्तख़्वाँ	हड्डी
चर्म	चिरम	चमड़ा
मिश्री	मिसरी	मिश्री
पक्ष	पर	पर (पक्षियों के पर)
नर	नर	पुंसत्व
माता (माया)	मादा (माद्दा)	स्त्रीत्व
युवा	जवां	जवान
क्षत	ख़त	कटा हुआ
विधवा	बेवा	रांड
श्वेत	सुपेद (सुफ़ेद)	सपेद
अहम्	अम्	मैं
त्वं	तो	तू
इदम्	ई	वह
अस्ति	अस्त	है
नास्ति	नेस्त	नहीं है
कृणु	कुन	कर
भस्त्री	भिस्ती	पानी देने वाला
गर्व	ग़ुरूर	अभिमान
निकट	निज़्द	नजदीक

संस्कृत	फ़ारसी	अर्थ
शलाका	शलाख़	शलाका
गृभ	गिरफ़्त	पकड़ना
ग्रन्थि	गिरह्	गांठ
चक्षु	चश्म	आंख
यक्ष्मा	ज़ख़्म	घाव (छाती के अन्दर का घाव)
गला	गुलू	गला
ग्रीवा	गरेबां	गरदन
नमः	नमाज़	नमस्कार*
अधिकार	अख़्तियार	अधिकार
अंगुलीय	अंगुश्तरी	अंगूठी
दूर	दूर	दूर
वीक्षण	बीन	देखना
दुःशमन	दुश्मन	वैरी
सायम्	शाम	शाम
चन्दन	सन्दल	चन्दन
बन्ध	बन्द	बाँधना
मुक्त	मुख़लिस	खुलाहुआ
न्योछावर	निसार	न्योछावर
नजात	नजात	न पैदा होना (मुक्त होना)
तन	तन	शरीर
वदन	बदन	मुख, शरीर
चक्र	चर्ख़	चक्र (आसमान)
कृमि	किरम्	कीड़े
आपत्ति	आफ़त	दुर्घटना

* विसर्ग की आवाज़ हकार है और हकार ज़कार हो जाता है। इसलिये ज़ेंद में नमज़ हुआ और फ़ारसी में नमाज़ हो गया।

संस्कृत	फारसी	अर्थ
नाम	नाम	नाम
छाया	साया	छांह
मनइच्छा	मन्शा	इच्छा
अत्तमान	आसमान	आसमान
भार	बार	बोझा
भ्रू	अब्रू	भौंह
वस्त्र	विस्तर	कपड़ा

अब अंगरेजी भाषा के शब्दों को यहां लिखते हैं। आप देखें कि किस प्रकार ये संस्कृत से निकले हैं। इससे योरोप की समस्त भाषाओं का पता लग जायगा। क्योंकि लेटिन, फ्रेंच आदि योरोप की कई भाषाओं के मिश्रण से अंगरेजी भाषा बनी है। लेटिन उसी प्रकार संस्कृत की बेटी है, जैसे जेंद और अरबी। क्योंकि इनमें लिङ्ग और वचन एक ही प्रकार के हैं। अंगरेजी भाषा आजकल इस देश में प्रचलित है। इसलिये भी दरकार है कि हम दिखलावें कि अंगरेजी कोई विशेष भाषा नहीं है, केवल भ्रष्ट हुई संस्कृत है।

संस्कृत	अंगरेजी	अर्थ
शर्करा	शुगर	खांड (फारसी में शकर होकर)
गो	गो	जाना, भूमि*
डु (कृञ्=करणे)	डू	करना
न	नो	नहीं
नास्ति	नॉट	नहीं (नात्ति, नाट्टि होकर)
लो	लो	देखना

* ग गमन अर्थ में है। अंगरेजी में जितने भौगोलिक शब्द आये हैं उनमें geo (जियो) अर्थात् गो सब में आया है, यथा geography और geometry आदि और गो का अर्थ संस्कृत में भूमि है ही। इसलिये गो का अर्थ जाना और भूमि किया गया है।

संस्कृत	अंगरेजी	अर्थ
सो	सो	यों, इस प्रकार
सिव	सो	सीना
चर्व	च्यू	चबाना
मृड	मड	मिट्टी
द्यौ	डे	दिन
नक्त	नाइट	रात
अत्ति	ईट	खाना, भोजन करना
पुरुषम्	परसन	आदमी
मनु	मेन	आदमी
यू (यूयम्)	यू	तुम
द्योपितर	जुपिटर	आकाश, बृहस्पति
शेटक	सियर	सेर (तौलने का)
मण	माउण्ड	मन (तौलने का)
लोक	लुक	आलोक, अवलोकन
मर्चयत	मर्चेन्ट	रोज़गारी
सांग	साँग	संगीत
मास	मंथ	महीना
मन	माइंड	मन
हृत्	हार्ट	हृदय
द्वौ	टू	दो
त्रि	थ्री	तीन
सष्ठ	सिक्स	छे
अष्ट	एट	आठ
नव	नाइन	नव
षष्टि	सिक्सटी	साठ
लक्ष	लैक	लाख

संस्कृत	अंगरेजी	अर्थ
उक्ष	ऑक्स	बैल
गौ	काउ	गाय
पथ	पाथ	रास्ता
सर्प	सर्पेन्ट	सांप
समिति	कमिटी	पंचायत, कमेटी
तरु	ट्री	वृक्ष
पार	फ़ार	अखीर, दूर
फुल्ल	फ्लावर	फूल
लम्ब	लाँग	लम्बा
प्रलम्ब	प्रोलाँग	लंबा करना
वक्र	कर्व	टेढ़ा
द्वार	डोर	दरवाजा
मूस	माउस	चूहा
तारा	स्टार	सितारा, तारागण
कर्पूर	कैम्फ़र	कपूर
अहिफैन	ओपियम	अफीम
हस्त	हैंड	हाथ
प्रश्न	क्वैश्चन	प्रश्न करना
पितृ	फादर	बाप
मातृ	मदर	माँ
भ्रातृ	ब्रदर	भाई
दुहितृ	डॉटर	लड़की
स्वसा	सिस्टर	बहन
सूनु	सन	बेटा
अन्तर	अन्डर	नीचे, भीतर
बहुतर	बेटर	ज्यादा अच्छा

संस्कृत	अंगरेजी	अर्थ
उपरि	ओवर	ऊपर
दन्त	डेन्ट (लेटिन)*	दांत
नव	न्यू	नया
नास्ति	नॉट	नहीं
अस्ति	इज़	है
अहम्	आइ एम	मैं हूँ
त्वा	दाउ	तू
अन्†	अन्†	नहीं
तर‡	अर‡	ज्यादा
मुख	माउथ	मुँह
श्री	सर	महाशय
लोड	लोड	लादना
निकट	नियर	नेरे, नजदीक
वाक्यवल्लरी	वॉकेब्युलरी	वाक्यावली
घास	ग्रास	घास
कर्त	कट	काटना
मन्त्री	मिनिस्टर	दीवान
विधवा	विडो	रांड
भ्रम्	रांग¶	असत्य
ऋत	राइट	सत्य
बन्ध	बाइंड	बाँधना
सम्मिलित	एसिमिलेटेड	सम्मिलित

---

* अंगरेजी में डेन्टल आदि ।

† अनावश्यक और अन्नोन आदि में ।

‡ लम्बतर और टॉलर आदि में ।

¶ यह व्रां था जो भ्रम का अपभ्रंश है ।

संस्कृत	अंगरेजी	अर्थ
क्रूर	क्रूअल	निर्दयी
दान	डोनेशन	दान
मिश्र	मिक्स	मिला हुआ
गृघ्नु	ग्रीडी	लोभी
मूक	म्यूट	गूंगा
नग्न	नेकेड	नंगा
नाम	नेम	नाम
उलूक	आउल	उल्लू पक्षी
छाया	शैडो	छाया
महत्तर	मास्टर	बड़ा, उस्ताद
स्वन्	साउण्ड	शब्द करना
स्थिर	स्टिल	ठहरा हुआ
स्वेद	स्वेट	पसीना
तृष्णा	थर्स्ट	प्यास
तान	टोन	तान
श्वेत	ह्वाइट*	सफेद
भ्रष्ट	वर्स्ट	खराब
चन्दन	सैंडल†	चन्दन
स्थित	सिट	बैठना
आविष्कार	इनवेन्शन	ईजाद, आविष्कार
भ्रू	ब्रो	भौंह

इस देश में वर्तमान समय में हिन्दू तथा मुसलमान तो प्रजा और अंगरेज लोग राजा हैं। हम नीचे के नकशे में दिखलाना चाहते हैं कि तीनों

* स का ह होकर स्वाइट अर्थात् ह्वाइट हुआ है।

† फारसी में सन्दल होकर।

की भाषा एक ही भाषा है। उनकी भाषाओं में कुछ भी फरक नहीं है। फारसी और अंगरेजी दोनों संस्कृत की बेटी हैं।

संस्कृत	फारसी	अंगरेजी	अर्थ
कर्पूर	काफूर	कैम्फर	कपूर
अहिफैन	अफयून	ओपियम्	अफीम
श्वेत	सफेद	ह्वाइट *	सफेद
द्वार	दर	डोर	दरवाजा
बन्ध	बन्द	बाइण्ड	बाँधना
द्वौ	दो	टू	दो
षष्ठ	शश	सिक्स	छे
अष्ट	हश्त	एट	आठ
नव	नैः	नाइन	नौ
भ्रष्ट	बद्	बेड	ख़राब
हस्त	दस्त	हैंड	हाथ
अश्व	अस्प	हॉर्स	घोड़ा
माया	माद्दा	मैटर	प्रकृति
युवा	जवां	यंग	जवान
वक्र	बोक	कर्व	टेढ़ा
मूस	मूश	माउस	चूहा
तारा	सितारा	स्टार	तारागण
शर्करा	शकर	शुगर	खांड
प्रश्न	पुरशीदन	कैश्चन	पूछना
पितृ†	पिदर	फादर	बाप
मातृ	मादर	मदर	मा

* स का ह होकर स्वाइट अर्थात् ह्वाइट हुआ है।

† पितृ का अपभ्रंश लेटिन में पेटर और जरमन में पतेर हुआ है। इसी प्रकार मातृ का लेटिन में मेटर और जरमन में मातेर हो गया है।

संस्कृत	फारसी	अंगरेज़ी	अर्थ
भ्रातृ	बिरादर	ब्रदर	भाई
दुहितृ	दुख़्तर	डाटर	लड़की
अन्तर	अन्दर	अण्डर	भीतर
चन्दन	सन्दल	सेंडल	चन्दन
नव	नौ	न्यू	नया
विधवा	बेवा	विडो	रांड
मृत्यु (मृ)	मर्ग	मोरटल	मरना
दन्त	दन्दा	डेण्ट	दांत
त्वं	तो	दाउ	तू
नास्ति	नेस्त	नॉट	नहीं
अस्ति	अस्त	इज़	है
बहुतर	बेहतर	बेटर	ज्यादा अच्छा
नाम	नाम	नेम	नाम
छाया	साया	शैडो	छाया
भ्रू	अब्रू	ब्रो	भौंह

आर्य भाषाओं का विवरण समाप्त करके अब सेमिटिक भाषाओं का विवरण यहां दिखलाना चाहते हैं। सेमिटिक भाषाओं में प्रायः दो ही भाषा संसार में जीती हुई समझी जाती हैं। एक हिब्रू जिसमें शुरू शुरू में बाइबल लिखी गई थी और दूसरी अरबी जिसमें क़ुरान शरीफ तथा और बहुत बड़ा साहित्य विद्यमान है। यद्यपि पहले योरोपीय विद्वान् कहा करते थे कि आर्य और सेमिटिक भाषायें बिलकुल भिन्न हैं, उनमें एक दूसरी से कुछ भी संबंध नहीं है, परन्तु अफ़रीका देशस्थ मिश्र अर्थात् इजिप्ट की भाषा के अध्ययन से पाश्चात्य विद्वानों को अब पता लग गया है कि इन आर्य और सेमिटिक दोनों भाषाओं का समावेश उस भाषा में हो गया है और ज्ञात होता है कि सेमिटिक भी आर्य भाषा से ही निकली है। क्योंकि मिश्र देश की भाषा के शब्दों के धातु आर्यभाषा से मिलते हैं, जो भाषा साम्य के लिये काफी

हैं। केवल व्याकरण सेमिटिक का सा ज्ञात होता है, जो गौण पक्ष है।

व्याकरण की शंका हम मिटाये देते हैं। क्योंकि यह सिद्ध बात है कि जिन भाषाओं में लिङ्ग और वचन तीन हैं अर्थात् जिन भाषाओं में एकवचन, द्विवचन और बहुवचन अथवा पुलिङ्ग, स्त्रीलिङ्ग और नपुंसकलिङ्ग हैं वे भाषायें वेदभाषा के बहुत निकट की हैं। लेटिन और ज़न्द इस बात का उज्वल उदाहरण हैं। जब हम सेमिटिक भाषा की प्रतिनिधि अरबी भाषा में भी तीन वचन और तीन लिङ्ग का कौशल विद्यमान पाते हैं तो क्या अब भी कोई शक बाकी रह सकता है कि अर्बी संस्कृत से सम्बन्ध नहीं रखती? विशेषकर जब अर्बी के व्याकरण में भी संस्कृत की भांति पुल्लिङ्ग में अकार मिलने से स्त्रीलिङ्ग होना देखते हैं यथा—साहब से साहबा, मलक से मलका, वालिद से वालिदा, तो व्याकरण का शक भी जाता रहता है। यह कौशल ठीक वैसा ही है जैसा राम से रमा, शिव से शिवा आदि। यदि अब भी सन्देह हो तो देखिये किस प्रकार संस्कृत के स्वच्छ शब्द अब तक अरबी के मर्मस्थल में रक्षित हैं, यद्यपि अरबी बोलनेवालों ने हलक़ से बोल बोलकर उसे ऊटों की भाषा बना दिया है।

संस्कृत	अरबी	अर्थ
हर्म्य	हरम	महल
सुर	हूर	देव
नर्क	नार	नर्क
पुन्नर्क	फिन्नार	नर्क
अन्तकाल	इन्तकाल	मर जाना, गुजर जाना
कर्त*	क़ात	काटना
कीर्तन†	क़िरतैअन	पढ़ना, पाठ करना
गल्भ	वल्ग़	प्रगल्भता, बलाग़त

* Cut भी इसी से बना है।

† इसी से क़ुरान शब्द बना है।

संस्कृत	अरबी	अर्थ
अजहार*	इजहार	कहना, जाहिर करना
शम्	सलाम†	शान्ति
ओ३म्	अलम‡	परमेश्वर
लोहित	लहू	खून
तिर (तिर्यंग्)	तैरून	तैरनेवाले, टेढा चलनेवाले पत्ती
मा	मा	नहीं, जैसे मा कुरु
येः	य	और, जो
व	व	और, अथवा
अहिफेन	अफयून	अफीम
पालक	वालिद	बाप (पिता पाता पालयिता वा)
षष्ठ	सित्ता	छे
सप्त	सब्त्रा	सात
ईळे	अल्ला	परमेश्वर (अग्निमीळे)
सिंह	हैसिम	शेर
मन्यु	मन्वुअ	गुस्सा करनेवाला, मना करनेवाला
दोहन	दुहन	घी, मक्खन आदि
दैत्य	दियत	खून बहानेवाला
विद्यु	बर्क	बिजली
सरकत (सृ=धातु)	हरकत	सरकना
नः	ना	हम लोग
महत्	माजिद	बड़े, बुजुर्ग

* संस्कृत में विपूर्व लिखने से 'व्याजहार' होता है।

† लाम बहुधा लुप्त हो जाया करता है।

‡ अरबी में लकार का उ हो जाता है, जैसे शफीउलुद्दीन का शफीउद्दीन। अर्थात् लकार का लोप होकर उकार हो जाता है। लाम लुप्त करने से और उ का आगम करने से ओम् का रूप स्पष्ट हो जाता है।

संस्कृत	अरबी	अर्थ
ख	ख़ला	आकाश
भ्रम	वहम्	भ्रम
द्यौः	योः	सूर्य
दिवम्	योम्	रोज, दिन
चरक	सरक	वैद्यक की पुस्तक
सुश्रुत	सरसस	वैद्यक का ग्रन्थ
निदान	वेदान	निदान
मा (माता)	उम्म	माता
पा (पिता)	अबा	पिता
रीति	तरीक	ढंग

अफरीका की प्रधान भाषा की प्रधान शाखा स्वाहिली भाषा के कुछ शब्द अब नीचे देकर उसका सम्बन्ध संस्कृत के साथ दिखलाते हैं। इसकी शाखा जो मिश्र में बोली जाती है आर्य और सेमिटिक भाषाओं को मिलाती है। इसी लिये हम यहाँ अरबी के सिलसिले में इसको भी लिखते हैं।

संस्कृत	स्वाहिली	अर्थ
ध्यान	धानी	विचार करना
कर्त	काटा	काटना
मृत्यु	माती	मरना
द्यौ (ज्योति)	जुआ	सूर्य
जम्बु	जम्बरऊ	जामुन
पुंगी	पोपो	सुपारी
सिंह	सिम्बा	शेर
गौ	गोम्वे	गाय
गोधूम	गानो	गेहूँ
षष्ट	सीता	छे
सप्त	सबा	सात

अब हम चीनाभाषा का सम्बन्ध संस्कृतभाषा के साथ दिखलाते हैं। यह भाषा वेदभाषा से लाखों वर्ष पूर्व जुदा होकर और अनेक रूप धारण करती हुई इस रूप में पाई जाती है, तथापि अपनी पूर्व जननी की तीन चार बड़ी बड़ी पहिचानें रखती है। (१) वेदभाषा के शब्दों में उदात्त, अनुदात्त और स्वरित के चिन्हों के हेर फेर से जिस प्रकार अर्थ में अन्तर पड़ जाता है, ठीक उसी प्रकार टोन (स्वर) का अन्तर होने से चीनाभाषा का भी अर्थ बदल जाता है*। (२) चीनाभाषा के शब्दों की लघुता है। चीन का मूल शब्द एकाक्षरी अथवा डेढ़ अक्षरी है। मुश्किल से कोई शब्द दो तीन अक्षर का होगा, अर्थात् मूल धातुओं में केवल टोन (स्वर) और मात्रा के ही प्रत्यय होकर शब्द बनते हैं। इसीसे उनके शब्द शैतान की आन्त नहीं होते। यही बात आप संस्कृत के धातुओं में पायेंगे। अति प्राचीन मूल धातु सब प्रायः एकाक्षरी ग, घ, य, म, भ, आदि अथवा इख्, अस्, इर् आदि की भांति डेढ़ अक्षरी हैं। इन्हीं में प्रत्यय लगाकर शब्द बना लिये जाते हैं। इससे ज्ञात होता है कि यह भाषा बहुत पुराने समय में वैदिकभाषा से अलग हुई थी, तथापि उसके अन्दर

---

* Try to say these simple Chinese words. There is table, *toh*. That seems easy. No, you are saying *to*, a knife. Wrong again. That is *to*, to fall. Oh! when you say your *t* aspirated, to demand. You try again and again, and say cover, peck, fish, peach, anything but table.—Peeps at Many Lands, China, by Lena E. Johnston.

अर्थात् चीनी भाषा के मामूली शब्दों ही को बोलने का प्रयत्न कीजिये। मसलन् मेज़ के वास्ते शब्द है टौह। मालूम होता है कि इसका उच्चारण बिलकुल सहज है। परन्तु नहीं, आपने इसके उच्चारण में जहाँ तनिक भी फरक किया कि इसके भिन्न ही भिन्न अर्थ निकलने लगेंगे कभी चाकू, कभी गिरना, कभी मांगना। इसी प्रकार मच्छी, ढकना वग़ैरह अनेकों अर्थ किञ्चिन्मात्र उच्चारण भेद से इसी एक ही शब्द के हो जावेंगे। परन्तु वह टेबल जो कि आपका अभीष्ट है न निकलेगा।

अनेक शब्द ज़रा सा रूप बदले हुए ज्यों के त्यों अब भी विद्यमान हैं। (३) इसकी एक शाखा में अब तक आठ विभक्तियों और तीन वचनों का प्रयोग होता है। इस भाषा का नाम है सामोपेडिक। पैतिसी तथा ओव नदियों के किनारों पर बसनेवाले इसे बोलते हैं। चीनाभाषा में मूलधातु सब मिलाकर २५० से अधिक नहीं हैं। पर वे लोग उस एक एक ध्वनि में ही उदात्त, अनुदात्त, स्वरित, ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत, अनुनासिक, गोल (बंगालियों की भांति), चपटे, टेढे आदि अनेक आकारों में ढालकर अपने शब्दों को अनेक रूपों का कर लेते हैं और अपना सब काम चला लेते हैं। यही कारण है कि हमको उन २५० शब्दों में से बहुत थोड़े शब्द मिल सके हैं। (४) चीनाभाषा में इस देश से सम्बन्ध रखनेवाली एक और बड़ी विलक्षण बात है। वह यह है कि हमारे देश में जिस प्रकार बंगाली लोग प्रत्येक ह्रस्व अक्षर को गोल करके कुछ ओकार की सी ध्वनि कर देते हैं जैसे कथा को कोथा, ठीक इसी प्रकार चीनाभाषा में भी देखा जाता है, जिसका नमूना नीचे की लिस्ट से ज्ञात होता है।

संस्कृत	चीना	अर्थ
वक्ष (वङ्क्षू)*	पोचू (फोचू)	अक्सस नदी (यह ग्रीक नाम है)
मालवा	मोलोपो	देश
नवदेवकुल	नेफोटिपोकुलो	एक वंश
तक्षशिला	तचशिथिलो	एक स्थान
स्थान	तान	थान
श्री	श्री (शिरि)	गुरु, आचार्य
ज्योतिःस्थान	जितान	सूर्यमन्दिर
जन	जिन	मनुष्य
लिङ्ग	लङ्ग	चिह्न, मनुष्य

* यह वह नदी है जिसके किनारे पर कालिदास ने रघु को पहुँचाकर हूणों का पराजय कराया था।

संस्कृत	चीना	अर्थ
अम्बा	मा	माता
डु (कृञ्) (लभस)	डो	कर्तव्य
जनस्थान	जिनतान	पृथिवी
द्युस्थान	टियनतान	स्वर्ग (दकार का टकार होजाता है)
होम	घोम	होम, हवन, यज्ञ

चीनाभाषा से ही जापानी भाषा निकली है। यद्यपि उस समय जब जापानी भाषा चीनाभाषा से बनती जाती थी जापानी लोग महा पूर्व दशा में थे। यहाँ तक कि उनको दश से अधिक गिनना भी नहीं आता था। तथापि उस भाषा में भी संस्कृत के बहुत से शब्द अब तक मौजूद हैं और बड़े ज़ोर से साबित कर रहे हैं कि चीन और जापान की भाषायें निस्सन्देह आर्यभाषाओं के ही अपभ्रष्ट रूप हैं। जापानी लोग शब्दों को बिगाड़ने में चीनियों से भी अधिक बहादुर हैं। यद्यपि उन्होंने अभी २ कई अंगरेज़ी शब्दों को बहुत बुरी तरह से बिगाड़ा है, यथा लेमोनेड को रामुने, ह्विस्की को वुसुकी, ब्रान्डी को बूरान्दी, लम्प को रामपु आदि, तथापि नीचे के शब्दों से ज्ञात होता है कि संस्कृत का अपभ्रंश इतने दिन में भी अधिक नहीं हो पाया है।

संस्कृत	जापानी	अर्थ
का, कः (किं)	का ?	क्या
द्यौ	दे	सूर्योदय
उक्ष	ओउशी	बैल
ज्ञानी	सान	श्रीमान्
बहुत्व	भोत्तो	बहुत
नित्यनित्य	नीचीनीची	नित्य २
शिष्य	शोसेई	शिष्य
गीईशः	गेईशा	गानेवाला
कनक	किनका	सोना

संस्कृत	जापानी	अर्थ
केश	के	बाल
अहिफेन	आहेन	अफीम
सां	सोरे	वह
मार्ग	माच	राह
जमीन*	जीमन	जमीन
हां*	हे	हां
ओ*	ओई	ऐ
चाभी*	कागी	चाभी
चूंची*	चीची	स्तन
गोंद*	गोम	गोंद

अब अखीर में द्रविड भाषा लिखते हैं। यद्यपि इसका शब्दकोष न वढ़ायेंगे, क्योंकि इस विषय में मद्रास निवासी श्रीमान् शेषगिरि शास्त्री ने एक पृथक् पुस्तक लिखकर अच्छे प्रकार सिद्ध कर दिया है कि द्रविड भाषाओं का भी संस्कृत से उसी प्रकार सम्बन्ध है जैसे जेंद और फ़ारसी आदि का और ये बिलकुल संस्कृत के ही अपभ्रष्ट रूप हैं, तथापि द्रविड लोगों के विषय में योरोपीय विद्वानों का जो एक विचित्र मत है उसका निबटेरा होना भी इसी मौके का काम है।

म्योर साहब कहते हैं कि 'तीन सहस्र वर्ष पूर्व जब आर्य लोग उत्तर पश्चिम कोण से आये, उस समय भारतवर्ष में वही श्यामवर्ण जाति आबाद थी जो बिलकुल आस्ट्रेलिया निवासियों की भाँति द्रविड भाषा बोलती है'। अंगरेज़ों के फैसले के माफिक आर्यों की मीरास तो यह देश है ही नहीं, किन्तु नन्-आर्यों (द्रविड़ों) की भी मीरास नहीं है। क्योंकि वे आस्ट्रेलिया से आकर यहाँ बसे हैं। यहाँ आर्य और द्रविडों की ऐक्यता मिटाई गई

---

*ये शब्द भी आर्य भाषा के ही हैं और भारत से ही गये हैं। पर ये हाल में ही गये मालूम होते हैं।

है और इस देश की क़ब्जेदारी पर भी अच्छा वार किया गया है। यद्यपि जब तक भारतवर्ष की किसी पुस्तक में यह न दिखला दिया जाय कि जब हम आर्य इस देश में आये तब उस समय हम से भिन्न कोई दूसरी जाति यहाँ पर रहती थी तब तक यह कथन मद्यप्रलाप ही है, तथापि इस विषय में भारतवर्ष का इतिहास जो कुछ कहता है हम यहाँ लिखते हैं।

आदि सृष्टि के कुछ ही काल बाद आर्य लोग हिमालय से उतर कर नीचे आबाद हुये और आराम से रहने लगे, किन्तु क्षत्रियों में कुछ प्रमाद बढ़ा और विद्या पढ़ने से जी चुराने लगे। गुरुकुलों में रहकर तपस्वी जीवन व्यतीत करने से कोमल राजकुमार घबराने लगे। अतः मनु की कानून के माफिक व्रात्य करके जाति से निकाले गये। क्योंकि उस समय का क़ायदा था कि—

सावित्र्या पतिता व्रात्या भवन्त्यार्य विगर्हिता।

अर्थात् यदि गुरुकुलवास करके विद्या और ब्रह्मचर्य का सेवन न करे तो आर्यत्व से पृथक् कर दिया जाय, अर्थात् दस्यु कर दिया जाय। क्योंकि बिना विद्या, बिना सदाचार, शिक्षा और बिना ब्रह्मचर्य्य के यदि वह मूर्ख जाति के अन्दर रहेगा तो जाति धीरे धीरे पतित हो जायगी। इसलिये ऐसे लोग जाति से बाहर किये जायँ और वे दस्यु कहलावें। वेद के कायदे से मनुष्य की दो ही श्रेणी हो सकती हैं—वैदिक अर्थात् आर्य और अवैदिक अर्थात् अनार्य दस्यु। (विजानीह्यार्य ये च दस्यवः—यजु०) कुछ दिन के बाद यह व्रात्य दल बहुत बढ़ गया। इसने आर्यों का विरोधी होकर देवासुर संग्राम नाम का घोर युद्ध किया, किन्तु 'यतो धर्मस्ततो जयः' वह अन्त में परास्त हुआ और देश छोड़ कर अनेक भागों में विभक्त होकर पृथ्वी के अनेक स्थानों में जा बसा, जैसा कि मनु महाराज कहते हैं—

पौण्ड्रकाश्चौण्ड्रद्रविडाः काम्बोजाः यवनाः शकाः
पारदाः पह्लवाश्चीनाः किराताः दरदाः खशाः।
शनकैस्तु क्रिया लोपादिमाः क्षत्रियजातयः
वृषलत्वं गता लोके ब्राह्मणा दर्शनेन च—मनु० १०।४३, ४४

ब्राह्मणों के पास न जाने से क्रिया लुप्त हुई, क्षत्रिय जाति वृषल होकर पौण्ड्र, चौंड्र, द्रविड, काम्बोज, यवन, शक, पारद, पह्लव, चीन, किरात, दरद और खश हो गई, अर्थात् उस उस नाम के देशों में जा बसी और देश के नाम से जाति का भी वही नाम हो गया। किन्तु आर्य लोग उनको पुनः सुशिक्षित करने के अभिप्राय से उनके देशों में जाते रहे और उपदेश करते रहे। तदनुसार एक दीर्घकाल के पश्चात् पुलस्त्य ऋषि दक्षिण मेरु पार्श्व में उपदेश करने गये। अधिक दिन रहने के कारण वहीं विवाह भी हो गया और सन्तान भी हुई। एक ब्रह्मचारी ऋषि की सन्तान कितनी बहादुर हो सकती है और वंशपरम्परा के संस्कार कितने प्रवल होते हैं इन दोनों बातों का नमूना रावण उन्हीं ऋषि पुलस्त्य के पुत्र की भार्या के पेट से पैदा हुआ। यह बड़ा ही प्रचण्ड धनुर्विद्या कुशल, युद्धप्रिय और तामसी था। अतः इसने अपने आस पास के आस्ट्रेलिया, अफरीका, मोडोगास्कर आदि देशों को कब्जे में करके लङ्का में राजधानी क़ायम की और भारत के भी दक्षिणीय समुद्रतट को दूर तक अपने कब्जे में कर लिया। सूर्पनखा के विधवा हो जाने पर रावण ने उसे चौदह सहस्र फौज देकर खरदूषण की सरदारी में सौंपा और दक्षिण अरण्य उसे दे दिया। वह सूर्पनखा रामचन्द्र पर आशिक हुई, जिसका नतीजा राम-रावण-युद्ध हुआ*। उस समय से लंकानिवासी सारे भारत में आते जाते रहे और विशेष कर मद्रास प्रान्त में रहते रहे। इनकी भाषा निस्सन्देह आस्ट्रेलिया की भाषा है, जैसा कि मेंनिग साहब अपने 'प्राचीन और मध्यन्तरी भारत' नामी ग्रंथ में लिखते हैं कि हम मिस्टर वारिस से पूर्णतया सहमत हैं, बल्कि इससे भी आगे कहते हैं, कि द्रविड और आस्ट्रेलिया की भाषाओं का सम्बन्ध अब निश्चित् होगया है कि ये दोनों एक हैं, तथापि उस भाषा की मूलभाषा संस्कृत ही है जैसा कि पण्डित शेषगिरि शास्त्री ने सिद्ध किया है।

इसके सिवा यहाँ हम आधुनिक पण्डितों के उन तीन आक्षेपों का भी उत्तर दे देना चाहते हैं, जिनको उन्होंने प्रबल समझ रक्खा है।

---

* वाल्मीकि रामायण, उत्तर सर्ग २ और २४।

(१) जितने मूलनिवासी हैं सब की भाषा आर्यों की भाषा से भिन्न है *।
(२) आकृति भिन्न हैं।
(३) विश्वास भिन्न हैं।

(१) ऊपर जो कहा गया था कि गुरुकुलवास न करने से जातिबाहर किया जाता था उसका कारण यही था कि जिससे भाषा, रूप और विश्वास कुछ भी न बिगड़े। हर जगह देखा जाता है कि विद्वानों की भाषा शुद्ध और मूर्खों की अशुद्ध होती है। इन द्राविडों की वंशपरम्परा मूर्खता से ही चली है, जैसा कि ऊपर मनु के प्रमाण से दिखाया गया है। इस पर भी न जानें बीच बीच में इनकी उस अशुद्ध भाषा को विद्वानों ने व्याकरण से कस कस कर कितनी बार ठीक किया और फिर मूर्खों ने उसे कितनी बार अपभ्रष्ट किया। इसी तरह अपभ्रष्ट भाषा भी फिर सुधारी गई और फिर अपभ्रष्ट हुई, जैसाकि जेंद, पहलवी, फारसी, उर्दू अथवा संस्कृत, प्राकृत, बँगला, मराठी, हिन्दी और ग्रामीण भाषाओं का हाल हुआ है। यही कारण है कि आज यह भाषा भिन्न ही प्रकार की प्रतीत होती है।

(२) वर्ण इनका श्याम है। गर्म देशों में रहने से बहुधा ऐसा हो गया है। इसके अतिरिक्त मूर्खता जिस प्रकार भाषा को अपभ्रष्ट करती है वर्ण और आकृति को भी उसी प्रकार ख़राब कर देती है। क्योंकि मूर्खजन सभ्यता, संस्कार, कोमलता, सौन्दर्य को जानते ही नहीं। बम्बई और देहात के पारसी तथा कलकत्ता और देहात के बंगाली दोनों के वर्ण, आकृति सभी में भिन्नता है। बाज समय तो मालूम ही नहीं होता कि ये दोनों एक ही हैं।

(३) विश्वास भी मूर्खों के विचित्र होते हैं। पृथिवी गोल है और सूर्य के चारों ओर फिरती है इस विषय में संसार भर के विद्वानों

---

* अँगरेजों का मत है कि मूलनिवासी कोल, भील, संथाल और नटादि हैं। उनकी भाषा भी द्राविडी भाषा से मिलती हुई आस्ट्रेलिया से भी मिलती है। अतः द्रविड और मूलनिवासियों का सम्बन्ध घनिष्ठ है।

का एक मत है, पर दुनियाँ भर के मूर्खों का न जानें इस विषय में क्या क्या विश्वास हो। अतः भाषा, विश्वास और रंग में फरक पड़ने से जाति दूसरी नहीं हो सकती। फौज के गोरे अशुद्ध बोलते हैं, उनके विश्वास जंगली हैं, शक्ल भी बेडौल और बाज बाज की भयानक होती है, तो क्या यह योरोप की कोई दूसरी जाति है? नहीं। बस हमने यहाँ यह दिखला दिया कि वे मूलनिवासी (द्रविड) इस देश में आर्यों के पूर्व नहीं बसते थे। आर्यों से पूर्व यहाँ कोई भी नहीं बसता था। वे यहाँ से लड़ झगड़कर आस्ट्रेलिया गये और वहाँ से अपनी भाषा और रूप बिगाड़ कर फिर यहाँ आये हैं। उनकी भाषा में संस्कृत की छाया इस समय तक विद्यमान है। यथा वे कर्पूर को करप्पू कहते हैं। अतः हम यहाँ इस करप्पू विषय से सम्बन्ध रखने वाली एक बात और कहना चाहते हैं। बात यह है कि मद्रास में दो चीजें पैदा होती हैं—एक चन्दन, दूसरा कर्पूर। किन्तु मद्रासी भाषा में इन दोनों मशहूर पदार्थों के लिये शुद्ध संस्कृत के अतिरिक्त द्राविडी शब्द नहीं हैं। ये लोग चन्दन को मंछीगन्धम् अर्थात् अच्छी गन्ध कहते हैं और कर्पूर को करप्पू कहते हैं। इस पर से आप विचार कर सकते हैं कि यदि ये आर्यों के पहिले यहाँ बसते होते तो आर्य लोग चन्दन का नाम इन्हीं से जरूर सीखते। क्योंकि चन्दन सिवा मद्रास के शेष भूमण्डल पर कहीं नहीं होता। किन्तु इनकी भाषा में चन्दन के लिये भी शब्द नहीं है। तभी तो मंछीगन्धम् शब्द बनाया गया है। किन्तु आर्य लोग इन दोनों पदार्थों को न जाने कब से जानते हैं। आर्यों ने ही इन दोनों पदार्थों को अपने शब्दों के साथ फ़ारस, अरब और योरोप तक पहुँचाया है। इस बात की उनके अपभ्रष्ट रूप गवाही दे रहे हैं।

संस्कृत	फ़ारसी	अंगरेजी
कर्पूर	काफूर	कैम्फर
चन्दन	सन्दल	सेंडल

यदि द्राविडादि मद्रास के मूलनिवासी होते, तो उनके यहाँ कर्पूर और चन्दन के लिये कोई शब्द होता। किन्तु उन्होंने उसी कर्पूर को करप्पू

कर लिया है और चन्दन के लिये तो वह भी नहीं कर सके। किन्तु कोई मन चले भाई यह कह दें कि तुम्हीं ने उनसे कर्पूर शब्द लिया होगा, तो उत्तर यह है कि चन्दन के लिये तो उनके पास कुछ है ही नहीं। रहा कर्पूर सो कर्पूर हमारे पुराने ग्रंथों में मौजूद है। हम चन्दन और कर्पूर दोनों सुश्रुत में दिखलाते हैं।

सतिक्तः सुरभिः शीतः कर्पूरो लघुलेखनः—सुश्रुत।

यथा खरश्चन्दनभारवाही—सुश्रुत।

अब यह विषय सर्वांशतः निश्चित हो गया कि द्रविडभाषा संस्कृत से ही निकली है और द्रविड लोग भी आर्यसन्तान ही हैं। विशेष शंका समाधान के लिये द्रविड (तिलगू) भाषा के भी कुछ शब्द संस्कृत शब्दों के साथ लिखे देते हैं। इसी प्रकार अन्य गोंडादिकों की भाषा के लिये भी समझना चाहिये। क्योंकि सी. पी. गेज़ेटियर ने उनकी भाषाओं को भी आस्ट्रेलिया की ही भाषा मानी है।

संस्कृत	द्राविडी (तिलगू)	अर्थ
अन्य	अन्नि	दूसरे, और, सब
चिक्कण (चकाचक)	चक्कटि	सुन्दर, अच्छा, चिकना
मनुष्य	मनजुडु, मनीषि	आदमी
तालु	तला	शिर, मस्तिष्क
इह	ई	यहाँ
रे	ओरि	हे (सम्बोधन)
अन्तः	अन्दु, इन्दु	उसमें, इसमें
मंजु	मंचि	अच्छा, उत्तम
अम्बुद	मब्बु	मेघ
नीर	नीलु	पानी
पत्नी	पेंडली	स्त्री

संस्कृत	द्राविडी (तिलगू)	अर्थ
गौ	औ	गाय
मेष	मेक	बकरा, भेंड़ा
उष्ट्र (ऊँट)	वंटे	ऊँट
दैवम्	दय्यमु	भूत, प्रेत, अन्तरिक्ष में भयावह शक्ति
राजा	राजु	राजा
उडुप	ओड	जहाज
अटवि	अड़वि	जंगल
चंडाल	चड्डा	बदमाश
गोधूम	गोदमलु	गेहूं
चूतविटप	माविट्ठचेट्टु	आम का दरख्त
शर्करा (शक्कर)	चेक्कर	खांड
चूना	सुन्नमु	चूना
रयि	रावडि	धन, आमदनी
कर्पूर	करप्पू	कपूर
उत्तर	उत्तरऊ	हुकुम, जवाब
छिल्लक	चुलकन	न कुछ चीज, सहल
शर्दी (शरत्)	छल्लि	सरदी
मूक	मूगा	गूंगा
पिण्ड (पेड़)	पेट्टे	जड़वट, पेड़
पारावत	पौरमू	कबूतर
काक	काकि	कौवा
अत्र	इकड़	इधर
तत्र	अकड़	उधर
पादक	पातिक	चतुर्थांश

यहाँ तक हमने इन बड़ी बड़ी भाषाओं के द्वारा दिग्दर्शन मात्र कराया कि सारे संसार की भाषाओं का उद्गमस्थान संस्कृत है* और इस बात को भी इसके पहिले प्रमाणित किया कि सारे संसार के ज्ञान का उद्गम भी संस्कृत का ही साहित्य है। मानो ज्ञान और भाषा दोनों के द्वारा यह सिद्ध हो गया कि संस्कृत ही—नहीं नहीं—उसकी मातामही वेद-भाषा ही ज्ञान और भाषा का संसार में प्रचार करने वाली है और वही आदि सृष्टि में मूल पुरुषों को मिली हुई ईश्वरीय विभूति है।

कोई भी भाषा तब तक पक्की नहीं समझी जाती और अधिक दिन तक जीवित नहीं रहती, जब तक उसमें पुस्तकें न सम्पादन की जायँ। पुस्तकें भी अधिक दिन तक कण्ठ नहीं रह सकतीं, जब तक लिख न ली जायँ। इसके अतिरिक्त लेखनकला प्रणाली के बिना राज्य और व्यापार आदि की अच्छी व्यवस्था नहीं हो सकती। क्योंकि लेखनकला के द्वारा मनुष्य अपने भाव एक स्थान से दूसरे स्थान तक पहुँचा सकता है। लेखनकला से साहित्य भी उन्नत होता है। यह सब चाहे किसी प्रकार हो भी जाय, पर ज्योतिष विद्या का काम तो बिना रेखा, अङ्क और बीज चिह्नों के चल ही नहीं सकता। ज्योतिष ही सब से आले दरजे का आविष्कार और सभ्यता का उच्चतम प्रमाण है। किन्तु शोक से कहना पड़ता है कि वेदों में ज्योतिष का पुष्कल वर्णन होते हुए भी पश्चिमात्यों ने इस देश के ऋषियों पर यह भी आक्षेप किया है कि वे लिखना नहीं जानते थे तभी तो वेदों को कंठ रखते थे। सुनकर पढ़ते थे और इसी लिये श्रुति कहते थे। आज अरबी का लिखना जारी है, पर हाफिज होना बड़े इज्जत की बात समझी जाती है। यह देखकर हम क्या यह परिणाम निकालें कि हाफिजों को लिखना नहीं आता? इन्हें यह खबर नहीं है कि घन जटा लगाकर कहने और कण्ठ करने का कारण शुद्ध रखने और अशुद्ध न होने देना था।

---

*इन भाषाओं में अन्य सैकड़ों शब्द इसी ढंग के मौजूद हैं।

इसके अतिरिक्त यदि कोई शंका करे कि वेदभाषा भी किसी दूसरी भाषा से निकली होगी तो उत्तर है और प्रबल उत्तर है कि वेदभाषा मनुष्यकृत नहीं है, क्योंकि मनुष्यकृत वस्तु कृत्रिम होती है। वह स्वाभाविक नहीं होती, किन्तु वेदभाषा स्वाभाविक अर्थात् सृष्टिक्रमानुकूल है। अतः वह मनुष्यकृत नहीं है और न किसी का अपभ्रंश अथवा शाखा है। जो मनुष्यकृत नहीं है वह ईश्वरकृत है। अतः वेदभाषा आदिसृष्टि में ईश्वरदत्त वैज्ञानिक मूल-भाषा है।



ओ३म् ।

अक्षरविज्ञान।

तीसरा प्रकरण।

वेदभाषा के वैज्ञानिक अर्थात् स्वाभाविक (कुदरती) होने में यह दृढतर प्रमाण है कि उसका एक एक शब्द वैज्ञानिक रीति से बनाया गया है। हर एक शब्द जिन अक्षरों से बना है वे अक्षर स्वयं विज्ञानमय और प्रत्येक अपना अपना स्वाभाविक (कुदरती) अर्थ रखने वाले हैं। इस बात का प्रमाण हमें दो प्रकार से मिलता है। एक तो प्रत्येक अक्षर के अर्थ से, दूसरे उन अक्षरों को लिखने के लिये जो सांकेतिक चिह्न बनाये गये हैं उनकी सूरतों और बनावटों से। इन दोनों प्रकारों से अच्छी तरह ज्ञात हो जाता है कि निस्सन्देह यह भाषा सब भाषाओं की मूल और आदि सृष्टि में मिली हुई ईश्वरप्रदत्त कुदरती भाषा है। इस प्रकरण में हम प्रत्येक अक्षर का वैज्ञानिक अर्थ दिखलाने का यत्न करेंगे, किन्तु अक्षरार्थ दिखलाने के पूर्व भारतवर्षीय वैदिकलिपि के सम्बन्ध में थोड़ा सा लिखना आवश्यक है, क्योंकि वैदिक लिपि का अक्षरार्थ से घनिष्ठ सम्बन्ध है। अतः यह प्रकरण हम लिपि विवरण से ही आरम्भ करते हैं।

जिस प्रकार भाषा पर विवाद है उसी प्रकार लिपि पर भी आक्षेप है। योरोपीय विद्वान् कहते हैं कि प्राचीन भारतवासी लिखना नहीं जानते थे। भारतवासी लिखना नहीं जानते थे यह बात क्या उनके साहित्य से पाई जाती है? जब ऐसा प्रश्न किया जाता है तो बात बनाकर कहने लगते हैं कि कोई बहुत प्राचीन पुस्तक, शिलालेख अथवा ताम्रपत्र आदि नहीं पाये जाते। हम

कहते हैं चाहे सड़ जाने, फटजाने और जला देने के कारण एक भी पुरानी पुस्तक न मिले और चाहे शिलालेख और ताम्रपत्र खोदवाये न जाने के कारण अथवा दबजाने वा गड़वादेने या न लिखवाये जाने आदि के कारण न मिलें, पर आज भारतवर्ष में पुराने से पुराने, बल्कि संसार में सबसे पुराने, साहित्य वेद से लेकर चाणक्य नीति तक बराबर लिखने की विद्या का वर्णन पाया जाता है, जो हम यहां अवलोकनार्थ लिखते हैं। वेद के इस मन्त्र में कि 'उतत्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुतत्वः शृणवन्न शृणोत्येनाम्' में पश्यन् ददर्श वाचम् और श्रुणोति वाचम् पद साफ आये हैं, जिनका अर्थ (पश्यन् को लेकर) भाषा को वांचना, पढ़ना और सुनना होता है। इसके अतिरिक्त वेदों में चक्र, त्रिभुजं, अक्षं, अक्षरः, परिधयः, ज्योतिषः, चित्र, संख्या, परिधि, लिखित्, लिखात्, लिखितम्, कोटि, अर्व, योग, भाग आदि शब्द प्रत्यक्ष आते हैं। ये शब्द ज्योतिष शास्त्र को सिद्ध करते हैं, जिसमें रेखा, अंक और बीज तीनों प्रकार की लिपियों का काम पड़ता है। आगे हम अथर्व ८। ४। २१ का मन्त्र देकर तीन बातें सिद्ध करते हैं—एक तो अरबों करोड़ों की संख्या, दूसरे संख्या लिखनें की विधि, तीसरे ज्योतिष शास्त्र की एक भूमिका। वह मन्त्र यह है—

शतं ते अयुतं हायनान् द्वे युगे त्रीणि चत्वारि कृण्मः।

वे शत दश सहस्र, दो, तीन, चार मिलाकर समय (वर्ष) करते हैं। एक सौ और दश सहस्र अर्थात् दश लाख तक लिख कर (किस अंक पर इतना लिखकर सो नहीं है, इससे समझना चाहिये कि शून्य लिखकर) उसमें दो, तीन और चार को जोड़ो तो ४३२००००००० चार अरब बत्तीस करोड़ होता है। यह संख्या १४ मन्वन्तरों अर्थात् एक ब्राह्मदिन की है। इतने दिन सृष्टि रहती है। इसी का वर्णन मनुस्मृति और सूर्य सिद्धान्त में आया है। अब हम पूछते हैं कि जिस वेद में इतनी इतनी बड़ी संख्यायें हों और उनसे लिखने का तरीका अर्थात् शून्य रखकर

अङ्क रखने की विधि मालूम होती हो तथा ज्योतिष के* मूल ग्रहों की आयु का वर्णन हो उनके लिये यह कल्पना करनी कि उनमें लिखने की विद्या नहीं थी अथवा उन ऋषियों को जिनका आधार वेद था उनके लिये कहना कि वे लिखना नहीं जानते थे घोर पाप है।

गोपथ ब्राह्मण ५। १। १६ में लिखा है कि ओमित्येतदक्षरमपश्य। अर्थात् (ओम् इति एतत् अक्षरम् अपश्यत्) ओ३म् इस अक्षर को देखता है।

मनुस्मृति ८। १६८ में कहते हैं कि बलाद्दत्तं बलाद्भुक्तं बलाद्यच्चापि लेखितम् अर्थात् बलात्कार से दिया हुआ, भोगा हुआ, लिखाया हुआ। दूसरी जगह कहते हैं कि—

ऋणदातुमशक्तो यः कर्तुमिच्छेत् पुनः क्रियाम्।
स दत्त्वा निर्जितां वृद्धिं करणं परिवर्तयेत्। मनु ८। १५४

जो ऋण देने को असमर्थ है और फिर से हिसाब करना चाहे वह चढ़ा हुआ सूद देकर दूसरा करण (काग़ज़ तमस्सुक) बदल देवे। दूसरी जगह कहते हैं—

निक्षेपेष्वेषु सर्वेषु विधिः स्यात्त्वरिसाधने।
'समुद्रे' नाप्नुयात्किञ्चिद्यदि तस्मान्न संहरेत्। मनु० ८। १८८

इन सब धरोहर में सही करने की यह विधि है। अर्थात् (मुहर) चिह्न-सहित दिये हुए में यदि मुद्रा (मुहर) छाप को हरण न करे तो कुछ शङ्का नहीं पाई जाती। मुद्रा का अर्थ छाप है और छाप अंगूठी आदि की लगाई जाती है। पूर्वकाल में अंगूठियों पर वे सिर पैर निशान न रहते थे, किन्तु नाम खुदा हुआ होता था। वाल्मीकि रामायण में सीता से हनुमान कहते हैं—

---

* 'मा असि प्रमा असि प्रतिमा असि' इन वाक्यों में वेदी की रेखा नापने के स्केल, परकाल, गज वग़ैरह का इशारह है।

वानरोहं महाभागे दूतो रामस्य धीमतः ।
रामनामाङ्कितं चेदं पश्य देव्यंगुलीयकम् । सुन्दर २० । ६

अर्थात् हे सीते ! मैं वानर रामचन्द्रजी का दूत हूँ । यह रामनाम अङ्कित अंगूठी को देखिये । महाभारत आदिपर्व १ । ७४ का यह प्रसङ्ग तो मशहूर ही है कि 'काव्यस्य लेखनार्थाय गणेशः स्मर्यतां मुने' अर्थात् काव्य को लिखने के लिये गणेशजी को बुलाया । क्या अब भी कोई शंका रह जाती है कि प्राचीन आर्य लिखना नहीं जानते थे ? बिना लिखना जाने कहीं अंगूठी पर अक्षर बन सकते हैं ? अब हम अधिक प्रमाण न देंगे, क्यों कि जानते ही हो कि महाभारत की कथा लिखने के लिये गणेशजी आये थे । किन्तु एक व्यंग्य का भी जवाब देना उचित जान पड़ता है, जो बहुधा योरोपीय पण्डित कहा करते हैं कि भारत में लिखना बैबीलन से आया । इसके उत्तर में हम केवल एक श्लोक सूर्यसिद्धान्त का लिखे देते हैं, जिससे ज्ञात हो जायगा कि भारतवासी ज्योतिष को (जो बिना लिखने के बन नहीं सकता) उस वक्त जानते थे, जब बैबीलन क्या सारी पृथिवी सो रही थी । सूर्यसिद्धान्त में लिखा है कि—

कल्पादस्माच्च मनवः षड् व्यतीताः ससंधयः
वैवस्वतस्य च मनोर्युगानां त्रिघनो गतः ।
अष्टाविंशाद्युगादस्माद्यातमेतत्कृतं युगम्
अतः कालं प्रसंख्याय संख्यामेकत्र पिंडयेत् ।

इस कल्प के छे मनु सन्धियों के सहित व्यतीत हो चुके हैं और वैवस्वत मनु की सत्ताईस चतुर्युगी भी बीत गई हैं और इस अट्ठाईसवीं चतुर्युगी का सत्ययुग भी बीत चुका है । इस काल में यह ग्रन्थ बना । मानो त्रेता के आदि में इस ग्रन्थ की रचना हुई है । त्रेता के १२९६००० और द्वापर के ८६४००० और आज तक कलि के बीते हुए ५००० कुल जोड़कर २१६५००० (इक्कीस लाख पैंसठ हजार) वर्ष हुये, तब सूर्य सिद्धान्त लिखा गया था । इसी से समझा जा सकता है कि यहां लिखना कब से जारी है । क्योंकि

देवनागरी लिपि की परिणाम दर्शक सम्पूर्ण वर्णमाला.

मौर्य (गिरनार) और विदिशा	कुषन	गुप्त (प्रयाग)	गुप्त (इन्दौर)	गुप्त (वलभी)	मध्यमकालीन विनायकपाल	म०कालीन (वैजनाथ)	म०कालीन (देवल)	नागरी (जयचन्द्र)	नागरी (आधुनिक)
ई.पू. २००.२५०	+१०० ई.	+३७५ ई	+४६५ ई	+५५० ई	+७२४ ई	+८०४ ई	+९९३ ई	+११७५ ई	+१९०८ ई
									अ
		(अ:खा)							आ
(कि:कि)									इ
(ई:जी)		(४:वी)	(ई:जी)		(ती:ती)		(वी:वी)		ई
			(प:यु)						उ
(मू:मू)		(म:भू)	(भ:दू)		(म:भू)	(तु:भू)		(भ:भू)	ऊ
	(कृ:कृ)	(कृ:कृ)	(गृ:गृ)			(गृ:गृ)			ऋ ऋ
									ॠ ॠ
									ऌ
(के:गे)			(ठे:चे)		(घे:घे)				ए
	(वै:वै)	(वै:वै)	(रै:रै)		(थै:थै)	(पै:पै)	(ठै:ठै)		ऐ
		(त:गो)	(तो:तो)					(यो:यो)	ओ
		(दौ:दौ)	(पौ:पौ)		(गो:नै)	(तौ:तौ)			औ
(यं:यं)			(यं:यं)			(भ:भं)			ं
			(कः:कः)						ः
									क
									ख
									ग
									घ
									ङ
									च
									छ
									ज
									झ
									(ञ)
									ट
									ठ

देवनागरी लिपि की परिणाम दर्शक सम्पूर्ण वर्णमाला

भट्टीप्रोलु मौर्य (दिल्ली)	कुषण	गुप्त (प्रयाग)	गुप्त (इन्दौर)	गुप्त (बावरपोथी)	मध्यमकालीन विनायकपाल	म० कालीन (बैजनाथ)	म० कालीन (देवल)	नागरी (जाजल्ल)	नागरी आधुनिक
ई ई +२००+२५०	+१०० ई.	+३७५ ई	+४६५ ई	+४५० ई.	+७९४ ई	+८०४ ई	+९९२ ई	+११७५ ई	+१९०८ ई
									ड
									ढ
									ण ण
									त
									थ
									द
									ध
									न
									प
									फ
									ब
									भ
									म
									य
									र
									ल
									व
									श
									ष
									स
									ह

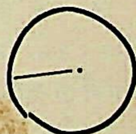
सन् १०८१ ई० की हस्तलिखित नागरी लिपि का नमूना

जयति जानकी वल्लभः सदा परम सार्वहो ना नारातमः
सजन वृन्द वत्पुलाक व तस ला निगमनीति विव सत्य संगरः।।
जयतु सर्वदा रारतावीणि नयनिदिः प्र जा पालान रतः ।
कृपयतु राज विद्दंसि मराउल मनुनु रामचंद्र रूपति प्रजा ।।

ज्योतिष के साथ गणित और गणित के साथ लिपि का होना अनिवार्य है। किन्तु सवाल यह है कि (१) लिपि का प्रादुर्भाव क्यों और कैसे हुआ और (२) आज जो अक्षर भारत में नागरी लिपि के नाम से चलते हैं यहीं के बने हैं या अन्य देश से लिये गये हैं। (३) मूल अक्षर किस आकार प्रकार के थे।

दूसरे प्रश्न का उत्तर यहाँ के विद्वानों ने दे दिया है और सिद्ध कर दिया है कि यहां जो अक्षर आजकल प्रचलित हैं किसी देश से नहीं लिये गये, किन्तु वे यहीं के हैं। इस विषय में महाशय बार्हस्पत्यजी, काशी, ने अच्छी खोज की है। उन्होंने प्राचीन ब्राह्मी लिपि (जो इस देश में पाणिनि के समय में लिखी जाती थी) अशोक लिपि के साथ सम्बन्ध जोड़ती हुई वर्तमान लिपि के रूप में किस प्रकार आई इस गहन विषय को एक सारिणी द्वारा समझा दिया है, जिसको हमने सरस्वती पत्र से लेकर यहां लगा दिया है—देखो पृष्ठ १०५ और १०६। इस देवनागरी लिपि की परिणामदर्शक सम्पूर्ण वर्णमाला की सारिणी से सिद्ध हो जाता है कि यहां वालों ने लिखना किसी से नहीं सीखा, किन्तु स्वयं ईजाद किया था।

अब पहिला प्रश्न है कि लिपि क्यों ईजाद की गई ? हमको वेदों के अवलोकन से पता लगता है कि उनमें ज्योतिष का वर्णन वहुत है। ज्योतिष पर ऋषियों की श्रद्धा भी थी, क्योंकि उससे आस्तिकता अधिक बढ़ती है। आस्तिकता ही नहीं बढ़ती, किन्तु ज्योतिष ईश्वर का साक्षात्कार करा देता है। आप इस अनन्त आकाश में इसका अन्त लेने के लिये एक बिन्दु से दूर तक रेखा खींचें और उस दिशा में अन्त न पाकर नीचे की दिशा में जायँ। वहाँ भी अन्त न पाकर बायें, दहिने, ऊपर, नीचे होते हुए हर तरफ जायँ। थोड़ी देर में थक जायँगे और अन्त न मिलेगा। यह कल्पित आकाश, बिन्दु और रेखा कागज़ पर बनाने से सामने दिया हुआ चित्र बनेगा जो रेखागणित का प्रथम साध्य है और त्रिभुज आदि अनेकों कोणों और रेखाओं का उद्गम है।



इसी से आकाश और पृथिवी की नाप होती है और ज्योतिष का मूल यही है और इसी पर ज्योतिष-वृक्ष खड़ा है। इस विद्या के सिद्ध करने में तीन प्रकार के चिन्हों की आवश्यकता होती है। एक तो गिन्ती-सम्बन्धी जिससे दो, चार, सौ, पचास, मालूम हों। दूसरे दिशासम्बन्धी जिससे इधर, उधर, आडा, टेढा, सीधा, गोल आदि मालूम हो और तीसरा संज्ञासम्बन्धी जिससे सूर्य, चन्द्र, नदी, पहाड़, पृथ्वी, ऊँचा, नीचा, लाल, पीला, हाथी, घोड़ा, बिन्दु, रेखा, एक, दो, आदि नाम मालूम हों। इन्हीं तीनों आवश्यकताओं के लिये संकेतों, चिन्हों वा अभिप्राय के चित्रों की सृष्टि हुई है। इन्हीं तीनों चिन्हों का नाम अङ्क, रेखा और बीज पड़ा है। एक, दो के सूचित कराने वाले चिन्हों का नाम अङ्क, ऊपर, नीचे, सीधे, टेढे, गोल, त्रिकोण सूचित कराने वाले चिन्हों का नाम रेखा और जिसको अंक तथा रेखा से बताया जाता है जैसे मैं, तुम, सूर्य, चन्द्र आदि के चिन्हों का नाम बीज है। यदि कोई अकस्मात् कह उठे कि तीन गोल, तो सुनने वाला पूछेगा क्या तीन गोल ? जब जवाब मिलेगा कि नीबू, तब समझ में आ जायगा कि तीन गोल नीबू। यहां तीन अंक है, गोल रेखा है और नीबू बीज है। इन्हीं तीनों रूपों से लिपि प्रचलित हुई है। अंक सारे गणित में काम आते हैं, रेखायें चित्रों और क्षेत्रों में काम आती हैं और बीज, जिनको अक्षर भी कहते हैं (क्योंकि बीज का नाश नहीं होता) संज्ञाओं में काम आते हैं। संसार में जितनी संज्ञाएं हैं इन्हीं बीजाक्षरों से लिखी जाती हैं *। तात्पर्य यह कि लिपि की उत्पत्ति का कारण ज्योतिष है।

मूल अक्षर किस आकार प्रकार के थे इस तृतीय प्रश्न को अब देखते हैं। यद्यपि मूल लिपि के असली रूप अब नहीं मिलते, किन्तु उनके अस्थिपञ्जरों

---

* भाषा की संज्ञायें सब १७ आवाज़ों के मेल से बनती हैं, जिनकी मिश्र संख्या ६४ है और वे सब वर्ण वा अक्षरों के नाम से प्रचलित हैं। इन्हीं ६४ आवाज़ों से संसार की सब संज्ञायें, सब नाम बने हैं। अतएव ऋषियों ने इन ६४ को ही बीज अक्षर मानकर इन्हीं के अर्थों के चित्र बनाकर बीजगणित का काम चलाया था।

(जैसे कि सारिणी में दिये गये हैं) से मूल रूप का अनुसन्धान हो सकता है। अनुसन्धान करने के लिये अक्षरों के साथ ही पैदा होनेवाले अङ्क और रेखा हमको सुगम रास्ता बता रहे हैं। उसी मार्ग से हम उनके असली रूप तक पहुँच सकते हैं।

जिस प्रकार एक का सुन्दर चित्र । यह है, दो का = यह, तीन का ≡ यह, चार का ॥ यह, और पाँच का ॥ यह है, (आदि में १, २, ३, ४, ५ के रूप ऐसे ही थे) उसी प्रकार विन्दु का . यह, रेखा का —— यह और परिधि का ○ यह है। ऐसे ही अकार, इकार, उकार आदि के अभिप्रायों, अर्थों वा तात्पर्य्यों के चित्र अर्थात् वैदिक लिपि के अक्षर वा वर्ण भी हैं। इन सबों के चित्र हम नीचे देते हैं।

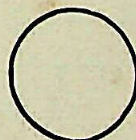
अङ्क।

१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ १०

रेखा।

.





बिन्दु रेखा परिधि

बीज।

। ी ॅ ु ू ं ँ ः

अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ

लृ ए ऐ ओ औ अं अः

क ख ग घ ङ च छ ज झ

ञ ट ठ ड ढ ण त थ द

ध न प फ ब भ म

य र ल व श ष स ह क्ष

त्र ज्ञ ळ

एक एक परमाणु से पृथ्वी बनी है। अतः पृथ्वी में वही गुण हैं जो परमाणुओं में थे। ऐसा नहीं हो सकता कि पृथ्वी में कुछ ऐसे भी गुण आगये हों जो परमाणुओं में नहीं थे। इसी प्रकार भाषारूप पृथ्वी भी अक्षररूप परमाणुओं से बनी है। अक्षर शब्द के उस टुकड़े को कहते हैं जिसका फिर टुकड़ा न हो सके*। आज हम मनुष्य की भाषा अर्थयुक्त देखते हैं, तो क्या भाषा के बीज, कारण और उपादान रूप उन अक्षरों का कुछ अर्थ न होगा? यदि अक्षरों का कोई अर्थ न हो, तो कहना पड़ेगा कि भाषा कृत्रिम है अर्थात् अभाव से भाव में आई है, मनुष्यरचित है, किन्तु बात ऐसी नहीं है। भाषा उत्पन्न होने के पूर्व उसके कारण रूप अक्षर आकाश में विद्यमान थे, क्योंकि आकाश अक्षरों (शब्दों) का कारण है। अक्षरों के ही योग से धातु और धातुओं से शब्द और वाक्य बनते हैं। इससे ज्ञात होता है कि ये सार्थक हैं।

*अक्षर नाम भाषा का भी है। निरुक्तकार यास्क 'ऋचोक्षरेपरमे व्योमन्' मन्त्र की व्याख्या में अक्षर का अर्थ 'वागितिशाकपूणिः' प्रमाण लिखकर शाकपूणि के मत से वाक् अर्थात् वाणी कहते हैं। इधर अक्षर पद बीज चिन्हों के लिये भी रूढ़ि है। इन्हीं दोनों अभिप्रायों को ध्यान में रखकर इस पुस्तक का नाम 'अक्षर विज्ञान' रक्खा गया है।

आकाश का गुण शब्द है, जो अकार रूप से नित्य व्याप्त रहता है। किन्तु ऊँच नीच भाव से उसके सात भाग हैं, जिन्हें स्वर अर्थात् स रि ग म प ध नी कहते हैं। उसी शब्द के स्थान प्रयत्न भेद से १७ विभाग और हैं, जिनको अक्षर कहते हैं। इन्हीं १७ के संकर-संयोग से ६४ अथवा ज्यादा अक्षर बने हैं*। यही १७ अपने विकृत रूप से संसार भर में व्याप्त पाये जाते हैं। मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, पतंग, सितार, ढोल, आदि के तथा खट खट, टन टन, काँव काँव, वं वं, वाँ वाँ, चिउं चिउं, चूँ चूँ, आदि जितने शब्द हैं, स्थान प्रयत्न के कारण उन्हीं १७ के ही भेद सुनाई पड़ते हैं। इससे ज्ञात होता है कि इनका नाश नहीं है, इसी लिये ये अक्षर कहलाते हैं और अपना स्वयं अर्थ रखते हैं। वेद कहता है कि ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन्देवा अधिविश्वे निषेदुः यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति" अर्थात् ऋचायें (ज्ञानयुक्त सार्थक वाक्य) परम अक्षर (अविनाशी) आकाश में ठहरी हैं, जिसमें सब देवता (निरुक्त के प्रमाण से सब विषय) ठहरे हैं। जो उन अक्षरों को नहीं जानता वह वाक्य समूहों से क्या लाभ उठायेगा? वह अक्षर क्या है? निरुक्तकार यास्क कहते हैं 'हमारी समझ में तो आता है कि वह अक्षर ओ३म् है' †। पर

---

*अरबी, फारसी के ज़े, ख़े, ग़ैन आदि और कुछ नहीं है। संस्कृत के झ से ज़े, क्ष अथवा ख से ख़े, घ अथवा ग से ग़ैन हो गया है।

†ओ३म् अकार की तीनों सीमाओं को दिखलाता है और समस्त वाणी के विषयों को अपने अन्तर्गत कर लेता है। वाणी की सीमा कण्ठ, ओष्ठ और तालुगत नासाछिद्र हैं। जहाँ से अकार का आरम्भ होता है उस कण्ठ के परे वाणी की गति नहीं है। उसके परे हकार है, किन्तु वह बिना अकार के कुछ भी नहीं है। जहाँ से उ का उच्चारण होता है उन ओष्ठों के आगे भी कोई स्थान नहीं है। तालुगत नासाछिद्र जो सानुनासिक ञ, ण, न, ङ, म, का स्थान है और जहाँ से अन्तिम सानुनासिक मकार निकलता है उसके आगे भी कोई स्थान नहीं है। इस प्रकार से समस्त वाणी की सीमा को अपने भीतर लेकर यह ओ३म् सर्व, सर्वेश्वर, सर्वव्यापक, सर्वाधार आदि अर्थ पैदा करता है। ये अर्थ सब ईश्वर में घट जाते हैं। इसलिये यह ओ३म् परमेश्वर का प्रधान नाम है।

'वागिति शाकपूणिः' शाकपूणि अक्षर का अर्थ वाणी करते हैं।

यहाँ भाषा प्रकरण में यह मन्त्र कहता है कि सब ऋचायें (वाक्यसमूह) उस परम अक्षर में ठहरी हैं जिसमें देवता (अर्थज्ञान) ठहरे हैं। जब तक उसे न जानो, केवल ऋचाओं से कुछ फ़ायदा नहीं है। वह अक्षर वाणी है। वाणी के बीज समस्त अक्षरज्ञान के साथ आकाश में ठहरे हैं, मानो शब्द ज्ञान के साथ आकाश का गुण होकर उसमें स्थित है। इस लिये उन अक्षरों और उनके अर्थों को जानो। योगशास्त्र ३।१७ में पतञ्जलि मुनि कहते हैं कि **'शब्दार्थ प्रत्ययानामितरेतराध्यासात्संकरस्तत्प्रविभाग संयमात्सर्वभूतरुतज्ञानम्'** अर्थात् शब्द अर्थज्ञानों के संयोग विभाग में संयम करने से सब प्राणियों की भाषा ज्ञात होती है। मतलब यह कि जितना शब्द समूह है, चाहे प्राणियों की भाषा में हो या बाह्य ध्वनि में, सब उन्हीं मूल अक्षरों के अन्तर्गत है। कोई भी शब्द तोड़ो और जोड़ो उन्हीं मूल अक्षरों को पाओगे। बस उनके ही संयम से सृष्टिनियम के अनुसार—विज्ञान के अनुसार—समस्त शब्दों का क़ुदरती ज्ञान प्राप्त होगा। इसी की पुष्टि में आर. सी. ट्रीनिच डी. डी 'स्टडी आफ़ वर्ड्स' में कहते हैं कि 'बच्चे स्वाभाविक ही यौगिक शब्द बोलते हैं। शब्दों के वास्तविक अर्थ जानने के लिये हमें उन शब्दों के धात्वर्थों को अवश्य जान लेना चाहिये, अन्यथा शब्द विस्मृत हो जायँगे। एक एक शब्द और अक्षर में कविता भरी हुई है'। बेशक बच्चे मा को मा, पानी को पा आदि कहते हैं। इन शब्दों का जब अर्थ जाँचा जाता है तो माता और पानी ही होता है। बस इन्हीं सब आधारों को लेकर हमने मूल अक्षरों का अर्थ दिखलाने की कोशिश की है। प्रयास प्रथम है। यदि इस पर आगे विज्ञान-दृष्टि से सुधार होता गया, तो किसी दिन वैज्ञानिक भाषा प्राप्त होगी और संसार का उपकार करेगी।

वैदिक वर्णमाला में मुख्यतः १७ अक्षर हैं *। इन १७ में जितने अक्षर

---

* अग्निरेकाक्षरेण···अश्विनौ द्व्यक्षरेण···विष्णुस्त्र्यक्षरेण···सोमश्चतु-

केवल प्रयत्न अर्थात् मुख और जिह्वा के इधर उधर हिलाने, सिकोड़ने और फैलाने से बोले जाते हैं और किसी विशेष स्थान से सम्बन्ध नहीं रखते उन्हें स्वर कहते हैं और जिनके उच्चारण में स्थान और प्रयत्न दोनों की सहायता लेनी पड़ती है उन्हें व्यञ्जन कहते हैं। अ, इ, उ, ऋ और ऌ स्वर हैं, क, ग, च, ज, ट, ड, न, द, प, ब, व्यञ्जन हैं और अनुस्वार तथा विसर्ग मध्यस्थ हैं। यही १७ अक्षर परस्पर के मिश्रण और संयोग से ६४ प्रकार के हो गये हैं। अ, अ, से आ, और आ, अ, से आ३ बना है। इसी तरह इ, उ, ऋ और ऌ का भी विस्तार है *। ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत भेद से इनके तीन तीन रूप हो जाते हैं। इस लिए अ से ऌ तक इनकी संख्या १५ है और ए, ए३, ऐ, ऐ३, ओ, ओ३, औ, औ३, और अं, अः, मिलकर सब स्वरों की संख्या २५ होती है। इनमें अ, इ, उ, ऋ, और ऌ, स्वतन्त्र हैं। परन्तु ए, ऐ, ओ, औ, अं, अः मिश्रित हैं। अ और इ के मिश्रण से ए, आ और ई के मिश्रण से ऐ, अ और उ के मिश्रण से ओ तथा आ और ऊ के मिश्रण से औ बना है। इसी तरह अ और अनुस्वार से अं तथा अ और विसर्ग से अः बना है। ञ, ण, न, ङ, म, ॐ और ँ आदि समस्त सानुनासिक वर्ण अनुस्वार से और ह, स, श, ष आदि वर्ण विसर्गों से ही बने हैं। विसर्गों में अ जोड़ने से ह बन जाता है, ह अर्थात् विसर्गों का ही स हो जाता है† और यही स टवर्ग के साथ होने से ष तथा चवर्ग के साथ होने से श हो जाता है।

क्षरेण····पूषापञ्चाक्षरेण सवितापडक्षरेण····मरुतःसप्ताक्षरेण····बृहस्पतिरष्टाक्षरेण····मित्रोनवाक्षरेण····वरुणोदशाक्षरेण······इन्द्रएकादशाक्षरेण······विश्वेदेवाद्वादशाक्षरेण····वसवस्त्रयोदशाक्षरेण······रुद्राश्चतुर्दशाक्षरेण······आदित्याः पञ्चदशाक्षरेण····अदितिः षोडशाक्षरेण····प्रजापतिसप्तदशाक्षरेण····। यजु० ६ । ३१—३४ ।

* ॡ का जब ह्रस्व और प्लुत है तब दीर्घ भी होना चाहिये। परन्तु संस्कृत में वह कहीं भी नहीं पाया जाता। इसलिए उसकी गणना वर्णमाला में नहीं की जाती।

† मनःकामना = मनस्कामना।

क, ग, च, ज, ट, ड, त, द, प और ब में ह् जोड़ने से क्रम से ख, घ, छ, झ, ठ, ढ, थ, ध, फ और भ हो जाते हैं। इ और अ मिलकर य, ऋ और अ मिलकर र, लृ और अ मिलकर ल, उ और अ मिलकर व बना है। इसी तरह क और ष से क्ष तथा त और र से त्र और ज और ञ से ज्ञ बना है। इस प्रकार से २५ स्वर के, २५ वर्ग के और (य, व, र, ल, श, ष, स, ह, क्ष, त्र, ज्ञ, ळ और ळ आदि) १३ स्फुट के मिलाकर ६३ अक्षर होते हैं। इन्हीं में एक अर्धचन्द्र शामिल करने से ६४ हो जाते हैं। इसीलिए पाणिनीय शिक्षा में लिखा है कि 'त्रिषष्टिः-चतुःषष्टिर्वा वर्णाः शम्भुमते मताः' अर्थात् शम्भु—परमात्मा के वैदिक मत से वर्ण ६३ या ६४ हैं। परन्तु इन सब का मूल वही १७ अक्षर हैं जो ऊपर वेद के प्रमाण से लिखे गये हैं। इन सत्रह का मूल भी यदि ध्यान से देखा जाय तो केवल एक अकार ही है। यह अकार ही अपने स्थान और प्रयत्न भेद से अनेक प्रकार का हो जाता है। ओष्ठ बन्द करके यदि अकार का उच्चारण किया जाय तो पकार हो जायगा और कण्ठ से उच्चारण किया जाय तो वही अकार क सुनाई पड़ेगा। इसी प्रकार समस्त वर्णों के विषय में समझना चाहिये। कहने का मतलब यह कि समस्त अक्षरसमूह, समस्त शब्दसमूह और समस्त ध्वनिसमूह स्थान प्रयत्न भेद से उसी अकार का ही रूपान्तर हैं। अकार प्रत्येक उच्चारण में उपस्थित रहता है। बिना उसकी सहायता के न कोई वर्ण कहते बनता है और न समझाई पड़ता है। यही कारण है कि अकार का अर्थ सब, कुल, पूर्ण, व्यापक, अव्यय, एक और अखण्ड आदि होता है। यह अक्षर अपने प्रबल अस्तित्व से दूसरे अक्षरों का अभाव भी सूचित करता है। इसलिए इसका अर्थ अभाव, नहीं, शून्य आदि भी होता है। इसके प्रबल अस्तित्व से पहिला अर्थ होता है और दूसरे अक्षरों का अभाव दर्शाने से दूसरा अर्थ होता है। हम आवश्यक समझते हैं कि इस भेद को जरा विस्तार से समझावें और साथ ही साथ यह भी दिखलाते जायँ कि किस प्रकार प्रत्येक अक्षर दोनों बनावटों से अपना अर्थ स्थिर करता है।

अ के बोलते वक्त जिह्वा सम और समस्त मुख चारों ओर से एक समान खुला हुआ रहता है *। अकार ध्वनि तालु से लेकर बाहर तक आ३....करती हुई | इस आकार की होकर मुख से निकलती है। यह चिह्न अकार का निर्भ्रान्त रूप है। हम ऊपर दर्शा चुके हैं कि बिना अकार के कोई अक्षर बोला नहीं जा सकता, इसलिए प्रत्येक अक्षर के चित्र में अकार का | यह मूल दण्ड विराजमान रहता है। जब कोई अक्षर हलन्त लिखा जाता है तो यही स्तम्भ लँगड़ा कर दिया जाता है, यथा त्, थ् आदि। इसी भाँति जब कोई मात्रा (स्वर) किसी अक्षर में लगाई जाती है तो वह भी इसी स्तम्भ में लगाई जाती है, यथा के, की, कु, आदि। इसी प्रकार जब कोई अक्षर किसी अक्षर से संयुक्त किया जाता है तो जो अक्षर आधा होता है उसमें | यह स्तम्भ लगाये बिना ही दूसरा अक्षर जोड़ा जाता है। यदि दूसरा भी आधा लिखना होता है तो तीसरे अक्षर में अकार स्तम्भ मिलाया जाता है, यथा न्या, न्ध्या आदि। यह प्रक्रिया आज की नहीं है, बल्कि पुरानी से भी पुरानी जो लिपि मिली है उसमें भी यही कौशल पाया जाता है। प्राचीन लिपि की सारणी जो पहिले दी गई है उसके पहिले खाने (सन् २००) की तीसरी पंक्ति को देखिये। वहाँ कि अक्षर लिखा है। ककार में जो इकार जोड़ा गया है, वह उसी स्तम्भ से मिला हुआ है। उक्त सारणी में अन्यत्र भी इसी प्रकार पाया जाता है। इसलिये यह झगड़ा तय हो गया और सिद्ध हो गया कि अकार का मूलरूप यही स्तम्भ है। क्योंकि दीर्घ के लिये तो यह आता ही है। साथ ही यह भी ज्ञात हो गया कि वह दूसरे ही अक्षरों के साथ इस प्रकार का पाया जाता है, पर जब स्वयं अ रूप से आता है तो | ऐसा नहीं किन्तु अ ऐसा लिखा जाता है। इसीलिये हमने उसके उच्चारण के विषय में दो बातें कही हैं कि (१) जिह्वा सीधी सम रेखा पर रहती है और (२) मुख चारों ओर से समान खुला हुआ रहता है। सीधी रेखा का वर्णन हो चुका अब

---

* सर्वमुखस्थानमवर्णमित्येके। पाणिनिशिक्षा

चारों ओर से मुख खुले रहने का वर्णन करते हैं। यदि आप मुँह को चारों ओर से एक समान खोलें तो उसका चित्र O यही होगा। हम अकार के पूर्व वर्णन में जहाँ उसकी व्यापकता, पूर्णता, और अखण्डरूपता बतला आये हैं वहाँ उसके वैज्ञानिक कार्यों के कारण ही हमें उसका वह अर्थ करना पड़ा है। अब यदि पूर्ण, सर्वव्यापक, अखण्ड आदि भाव का चित्र बनावें तो उपर्युक्त शून्याकार से अच्छा चित्र दूसरा न बन सकेगा। चित्र की ओर देखते ही उसकी आकृति अपनी पूर्णता, व्यापकता और मुखाकृति को एक साथ ही कह देती है। अकार के O| इन दोनों चिन्हों को एक में मिलाने से ०| यह रूप होता है और अपने अभिप्राय का अर्थ अपने रूप से कहने लगता है। जैसा हमने पहिले कहा था कि अकार अपनी व्यापकता और सर्वस्वता से अन्य अक्षरों का एक प्रकार से अभाव भी सूचित कराता है, इसलिये यह कभी कभी अभाव अर्थ में भी आता है। क्या अभाव का चित्र O इससे अच्छा दूसरा बन सकता है? नहीं, अतः ऊपर के चित्र में यह अभाव भी सूचित करा रहा है। किन्तु व्याकरण की सुविधा के लिये ह्रस्व अकार को अशुद्ध, अयोग्य, अभाव आदि की तरह नहीं अर्थ में और दीर्घ अकार को आलभ, आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तम्, आसमुद्रात् आदि की तरह समस्त अर्थ में लिया गया है जो युक्तिसंगत है। क्योंकि समस्त अर्थात् पूर्ण से अभाव का रूप छोटा है, इसीलिये ह्रस्व अकार अभाव और दीर्घ अकार समस्त अर्थ में आया है। इस अर्थ के अतिरिक्त कारणकार्यभाव को लक्ष्य में रखकर बिना किसी दबाव के स्वभावतः यदि और कोई अर्थ निकल सकता हो तो निकालना चाहिये और इसी शैली का व्यवहार समस्त अक्षरों में करना चाहिये।

इ का उच्चारण अकार के बाद उसके नजदीक ही है। इ अ के सिवा और कुछ नहीं है। यह अ ही है जो नीचे की ओर जाकर

निचले ओष्ठ की सहायता से इ रूप का हो गया है। अकार से ही इसकी उत्पत्ति है और उसके अत्यन्त ही निकट है, इसलिये यह इकार अकार का सम्बन्धी कहलाता है। इसीसे इसका अर्थ 'वाला' होता है। वाला का मतलब इस प्रकार समझना चाहिये कि जैसे मकानवाला, कुत्तेवाला आदि। अंगरेज़ी का 'er' क्रिया में लगाने से जो (Speaker, Worker आदि) अर्थ पैदा करता है, इ से भी वही अर्थ पैदा होता है। जैसे वा का अर्थ गति है, किन्तु व में इ लगाने से वि का अर्थ गतिवाला होता है और पा का अर्थ रक्षा करना है, किन्तु पि का अर्थ रक्षा करनेवाला हो जाता है। इसके सिवा अकार एक सम शब्द था, परन्तु उसमें व्यङ्ग उत्पन्न करने से—गति पैदा करने से इ हुआ है। अर्थात् अकार में सञ्चालन—परिवर्तन—हुआ है तभी इकार बना है, इसलिये इकार का अर्थ गति भी होता है। और इ धातु गति अर्थ में आया है। इकार के बोलते वक्त शब्द निचले ओष्ठ द्वारा मुँह से निकलकर ज़मीन पर पाँव के पास गिरता है। वह उ की भाँति दूर का द्योतक नहीं है। इसलिये इसका अर्थ नज़दीक, पास और यह आदि भी होता है। इदम्, इहलोके आदि शब्दों में इ अपना यही भाव प्रकट कर रहा है।

इसके भी दो रूप हैं। पहिला रूप ᒣ यह है। यह अपने को अकार का समीपी बतलाते हुए दो रेखाओं को जोड़ता है। अर्थात् इस | अकार की रेखा को नीचे लाता है। दूसरा रूप ⦃ यह है। यह गति बतलाता है। अकार से नीचे की ओर गति हुई है। वही गति इसमें दिखलाई पड़ रही है। इस ई का पहिला रूप कि, घी आदि में ि, ी इस प्रकार काम आता है अर्थात् किसी अक्षर के समीप रहना पड़ता है। उसका दूसरा रूप गति अर्थ के अनकूल है। गति का चित्र उपर्युक्त रूप से अच्छा कोई भी चित्रकार बना नहीं सकता। अतः इसके दोनों रूप वाला और

गति अर्थ को ध्यान में रखकर बनाये गये हैं।

ए अक्षर अकार और इकार के संयोग से बना है। दोनों अक्षर एक साथ बोलने से ए वर्ण सुनाई पड़ता है। अकार से नहीं और अव्ययं तथा इकार से वाला और गति अर्थ निकलता है। इन दोनों के मिलने से नहीं गति, गतिहीन, निश्चल अथवा अव्ययवाला, पूर्ण, अर्थ होता है। इसी से एक आदि प्रख्यात शब्द बनते हैं जो पूर्णता, अखण्डता के द्योतक हैं। इसका रूप [illegible] यह है। इसमें पहिली लकीर अ की और दूसरी गतिमान रेखा इ की है। दोनों के संयोग से यह बना है। जब यह स्वयं आता है (जैसे एक आदि में) तो इसका यही रूप रहता है, पर जब किसी अक्षर में मिलता है तो के इस भाँति लिखा जाता है। बोलने में भी ए की आकृति मुँह से तिरछी निकलती है, इसीलिये यह अक्षरों पर तिरछा ही लिखा जाता है।

य अक्षर इकार और अकार के मिश्रण से बना है। इ और अ एक साथ बोलने से य ध्वनि बन जाती है। इकार का अर्थ गति और अकार का अर्थ पूर्ण होता है। इसलिये यकार का अर्थ गतिपूर्ण होता है। गति एक जगह से निकलकर जब दूसरे स्थान में पहुँचती है तभी पूर्ण समझी जाती है। हम देखते हैं कि यकार सर्वत्र यः अर्थात् जो अर्थ में आता है। जो का भावार्थ भिन्न वस्तु अथवा अन्य वस्तु है। जब हम कहते हैं कि जो जो पदार्थ तो मालूम होता है कि अनेक पदार्थ दूर दूर हैं। इसीसे पूर्ण गति का भाव सूचित होता है। इसका रूप [illegible] यह है। इसमें पहिली रेखा इ की और दूसरी अ की है। क्योंकि यह इ और अ से ही बना है।

उ प्रधानतया ऊपरवाले और साधारणतया नीचेवाले ओष्ठ की सहायता तथा मुँह की चौड़ाई को सिकोड़ (चुन्नतकर) देने से बनता है।

उ मुँह से निकलकर ऊपरी ओष्ठ के कारण ऊपर ही आकाश में दूर चला जाता है। उसको बोलते वक्त आपसे आप मालूम होने लगता है कि यह आगे को निकला हुआ मुँह अपने से भिन्न और दूरस्थित किसी दूसरे का इशारा कर रहा है। इसीलिये उकार का अर्थ ऊपर, दूर, वह, आदि होता है। अब तक अनेक लोग वह चीज़ लाओ की जगह

उ चीज़ लाओ कहते हैं। इसके भी —— यह और [glyph] यह दो

रूप हैं। पहिला रूप ऊपर की सूचना देनेवाला और उँगली उठाकर दूसरे को बतानेवाला है। यह उँगली का चिन्ह है। यहो को, खो आदि में काम आता है। दूसरा रूप दूर, अन्य आदि भाव समझानेवाला है। जिस प्रकार चुना हुआ मुँह आगे को निकालकर दूर और अन्य पदार्थ को सूचित किया जाता है, ठीक उसी प्रकार का अर्थप्रकाश करने के लिये वैसी ही मुखाकृति का चित्र बना लिया गया है। इसकी पहिली लकीर मुँह के भीतर का आकार है और कोने का बिन्दु चुना हुआ, लम्बा और बाहर निकला हुआ मुँह है तथा उसी से लगी हुई आड़ी लकीर शब्द को दूर फेंकती है और अन्य, वह, दूर आदि अर्थ बतलाती है। इसके इस —o आधे रूप से कु आदि बनते हैं।

ओ अकार और उकार के संयोग से बना है। अकार का अर्थ नहीं और उकार का अर्थ अन्य और दूसरा आदि है। इसलिये ओकार का अर्थ अन्य नहीं होता है। अन्य नहीं का अर्थ है वही, अर्थात् दूसरा नहीं। इसीलिये यह सो, यो आदि शब्दों में देखा जाता है और अर्थ भी वही, जो आदि रखता है। इसका रूप ो यह है इसमें अकार और उकार दोनों के चिह्न मिले हुए हैं। ओ बोलते वक्त जिस प्रकार आदमी ऊपर को हाथ उठाकर पुकारता है उसी भाँति यह उद्गीथ का चित्र बनाया गया है।

व अक्षर उकार और अकार से बना है*। उ और अ एक साथ बोलने से व वर्ण बनता है। उकार का अर्थ अन्य और अकार का अर्थ पूर्ण है। इसलिये वकार का अर्थ पूर्ण भिन्न हुआ। यही कारण है कि संस्कृत साहित्य में वकार अथवा अर्थ में आता है। अथवा पूर्ण भिन्न ही का अनुवाद है। इस उकार का दूसरा अर्थ दूर भी है। दूरता बिना गति और बिना संचालन के नहीं होती। इसलिए वकार का अर्थ गति भी होता है। वा धातु ही गति अर्थ में है। पृथ्वी बड़ी गतिमान और गंधवती है इसलिये वा गन्ध अर्थ में भी आया है। व में O इतना भाग उकार का और ‖ इतना भाग अकार का लेकर इसका रूप O‖ इस प्रकार बनाया गया है।

बकरियों को बुलाते समय जिस प्रकार लोग उर्र उर्र करते हैं अथवा हारमोनियम की अन्तिम चाभी Tremelo खोलने पर जो ध्वनि होती है या मेंढक अथवा झींगुर की जो ध्वनि है वही ध्वनि ऋ अक्षर की भी है। इसका कोई रि और कोई रु उच्चारण करते हैं। पर ये दोनों उच्चारण अशुद्ध हैं। इसके उच्चारण में जिह्वा तालु से बार बार लग लगकर छूटती है। जितनी जल्दी छूटती है उतनी ही जल्दी फिर लगती है। अर्थात् जिह्वा किसी स्थान को नहीं पकड़ती, किन्तु निरन्तर गतिमान रहती है†। इसकी गति में विश्राम नहीं है, इसीलिये इसकी गति अखण्ड, नित्य और सत्य कहलाती है। इन्हीं कारणों से ऋ अक्षर सत्य और गति दो अर्थों में

---

* वकार को आजकल य र ल के बाद रखते हैं, परन्तु उसे य के बाद रखना चाहिये और य व र ल पढ़ना चाहिये।

† स्वर में निरंतरता रहती है और व्यंजन में नहीं, क्योंकि व्यंजन में जब तक कोई स्वर न मिले तब तक उसका स्पष्ट उच्चारण नहीं हो सकता। पर स्वर का शब्द तब तक निरन्तर जारी रहता है जब तक कि उसका स्थानापन्न कोई दूसरा स्वर न बोला जाय। हाँ, जान बूझकर मुंह बन्द कर लिया जाय तो बेशक वह स्वर बन्द हो जायगा।

प्रचलित है। इसकी गति बाहर की ओर है। इसलिये यह बाहर अर्थ में भी आता है। इन्हीं अर्थों को ध्यान में रखकर इसके ~ यह और ऋ~ यह दो रूप बनाये गये हैं। पहिला रूप बाहर की ओर दानेदार गति का सूचक है, अर्थात् उस आवाज़ का सूचक है जो जिह्वा के तालु में लगने से पैदा होती है। परन्तु बिना अकार के योग के यह स्वयं किसी रूप में नहीं आ सकता। इसलिये इसे अकार के साथ दूसरे रूप में दिखलाया गया है। ऋ जब किसी अक्षर के साथ मिलता है तो पहिले रूप से, और जब स्वयं आता है तो दूसरे रूप से लिखा जाता है। ऋकार में अकार जोड़ने से र बनता है। ऋ के वर्णन में उसका अर्थ बाहर, सत्य और गति बताया गया है। अतः रकार बाहर फेंकने अर्थात् देने और सत्य गति, अविच्छिन्न अस्तित्व अर्थात् रमन अर्थ में लिया गया है जो सारे साहित्य में प्रचलित है। इसके रूप में ~ इतना भाग ऋ का और । इतना भाग अकार का है। दोनों को मिलाने से ~। ऐसा रूप बना है।

लृ और ऋ के उच्चारण और स्थान में बहुत भेद नहीं है। ऋ बोलते समय शब्द की गति बाहर की ओर रहती है, किन्तु लृ बोलते समय जिह्वा भीतर की ओर मुड़ जाती है। इसी से लड़बड़ाहट सुनाई पड़ती है। बाक़ी ऋ और लृ का आकार प्रकार एक ही है। यह भी अविच्छिन्न गतिमान है, अतएव इसका भी अर्थ सत्य गति ही होता है। इसकी गति भीतर की ओर है, इसलिये इसका अर्थ भीतर भी होता है। इसके भी m यह और लृm यह दो रूप हैं। पहिला रूप भीतर की ओर दानेदार गति को दिखलाता है। यह गति जिह्वा के तालु में बार बार छूने से पैदा होती है। यह जब किसी अक्षर के साथ मिलता है, तो प्रथम रूप से मिलता है, किन्तु जब पूर्ण रूप से आता है तो दूसरे रूप से

लिखा जाता है। लृकार और अकार के संयोग से ल बना है। शब्द को बाहर फेंकने के कारण जिस तरह ऋकार से बने हुए रकार का अर्थ देना हुआ है उसी प्रकार शब्द को भीतर फेंकने के कारण इस लृकार से बने हुए लकार का अर्थ लेना हुआ है। यही कारण है कि रा धातु का अर्थ देना और ला का अर्थ लेना प्रचलित है। ऋ और लृ दोनों गति अर्थ में समान हैं, किन्तु ऋ बाहर की ओर गति करता है अर्थात् शब्द को मुख से बाहर फेंकता है, इसलिये उससे बने हुये रकार का अर्थ देना हुआ है और लृ भीतर की ओर गति करता है अर्थात् शब्द को मुख के अन्दर फेंकता है, इसलिये उससे बने हुये लकार का अर्थ लेना किया गया है। ऋ में जिह्वा का अग्रभाग तालु में छू छूकर बाहर की ओर गति करता है और लृ में भीतर की ओर गति होती है। इन दोनों में यही अन्तर है, बाकी हर बात में दोनों समान हैं। ल में ~~ इतना भाग लृ का और । इतना अकार का मिलकर ~। यह रूप हुआ है।

ँ, ं, ꣳ और ङ, ञ, ण, न, म ये सब अक्षर सानुनासिक कहलाते हैं। सानुनासिक का मतलब नासिका से बोले जाने वाला होता है *। अकार का अन्तिम रूप ं यह है। इसी को अनुस्वार कहते हैं। समस्त सानुनासिक स्थानभेद से इसी के रूपान्तर हैं। मुख बन्द करके जब अकार बोला जाता है तो उस शब्द का रूप ं यह हो जाता है। इसी प्रकार कवर्ग स्थान से नासिका के द्वारा ङ, चवर्ग स्थान से ञ, टवर्ग स्थान से ण, तवर्ग स्थान से न और पवर्ग स्थान से म होता है। अनुस्वार का ही अर्ध रूप यह ँ और प्रबल रूप यह ꣳ है। जब अर्ध ध्वनि होती है तब ँ यह, जब साधारण ध्वनि होती है तब ं यह और जब भारी ध्वनि की जाती है तब ꣳ यह होता है। इसे गुं या ग्यं कहना भूल है। अकार का जहाँ अस्तित्व

---

* यमाश्च नासिका जिह्वामूलीया एकेषाम्। ꣳ ँ ङ ञ ण न माः स्वस्थान नासिकास्थानाः।

नष्ट होता है वहीं से अनुस्वार और सानुनासिकों का जन्म होता है। अर्थात् अकार के अभाव को अनुस्वार, पञ्च कवर्गादि के अभाव को सानुनासिक और अन्य सव के अभाव को ꣳ कहते हैं। अतएव इन आठों ध्वनियों अर्थात् आठों अक्षरों का अर्थ नहीं, अभाव अथवा शून्य होता है। क्योंकि अकार का अर्थ सर्व, पूर्ण और समस्त आदि है। ये आठो समस्त अक्षरों का अस्त करके स्वयं उदित होते हैं, इसीलिये ये निषेध अर्थ में आये हैं, यथा म, न, आदि। अनुस्वार का रूप ० यह है। यह उस छिद्र का चित्र है जो मुँह के भीतर मूर्धास्थान में नाक से सम्वन्ध रखता है। इस चित्र को वनाकर चित्रकार ने वड़ी ही कारीगरी की है, क्योंकि इससे मूर्धाछिद्र और नहीं दोनों अर्थ प्रकट होते हैं। छिद्र और अभाव का ० यह उत्तम चित्र है। समस्त सानुनासिक अक्षर इसी को लक्ष्य में रखकर वनाये गये हैं और सव में यह विन्दु अपने वर्ग आदि के अक्षरों के साथ विद्यमान है। यथा ङकार का रूप यह, ञकार का यह, णकार का यह, नकार का यह और मकार का यह है। इन पाँचों वर्गों के प्रथम अक्षर के साथ इस अनुस्वार का विन्दु मिला हुआ है। ꣳ के रूप में अकार और अनुस्वार दोनों दिखलाये गये हैं और शृङ्गी वाजा का चित्र वना दिया गया है। छोटे छिद्र के फूँकने से अ और वड़े छिद्र के फूँकने से . हो जाता है। यह मुख और नासिका के सम्वन्ध का स्पष्ट चित्र है।

विसर्ग का उच्चारण नाभि से होता है *। अर्थात् जहाँ तक प्राण का संचार है वहाँ के मूल से इसकी उत्पत्ति है। इसीलिये यह पूर्णतासूचक होने से निश्चयार्थ में आया है। जहाँ से यह आता है वहाँ शव्द का अन्त है, इसलिये यह अन्त अर्थ में भी आता है। परंतु विना अकार के यह

* ह विसर्जनीयावुरस्यावेकेषाम्।

कुछ भी नहीं है। अतः यह अभाव और संकोच अर्थ में भी आता है। इसका रूप 8 यह है। पेट से गर्दन की ओर जो पोलाई है उसका पहिला द्वार कंठ है, दूसरा द्वार वाहर का ओष्ठ स्थानीय मुँह है और दोनों का रूप ० ऐसा है। विना इन दोनों द्वारों के इसका उच्चारण नहीं हो सकता। इसमें । यह नाभि से कण्ठ तक की शब्द रेखा का चिन्ह भी नली की तरह लटकता है। इसी विसर्ग में अ जोड़ने से ह स्पष्ट हो जाता है और निश्चय तथा निषेधार्थ में आता है। निश्चयार्थ तो इसकी उस शब्द मूलकता से निकलता है, जो नाभि तक—प्राणों की सीमा तक—विद्यमान है और निषेध अर्थ इसलिये निकलता है कि यह अपने से आगे शब्दतत्त्व का निषेध करता है। अर्थात् स्वयं शब्द का मूल वनकर अपने लिये निश्चय दिलाता है और अन्य के लिये निषेध करता है, मानो समझाता है कि अब मेरे आगे और शब्द नहीं है। इसका रूप भी उन्हीं विसर्गों में केवल अकार का चिन्ह जोड़ने से और नाभि रेखा को लम्बी करने से 8 इस प्रकार वनता है। ख, घ, छ, झ, ठ, ढ, थ, ध, फ और भ, ये दस अक्षर इसी हकार की सहायता से वने हैं*। इन सब अक्षरों में इसका संक्षिप्त रूप तथा निषेध प्रदर्शक अर्थ विद्यमान है। इस हकार में यह खूबी है कि जब यह स्वयं अपने स्पष्ट ह रूप से आता है तब निश्चयार्थ कर

---

* शाद्य ऊष्माणः ! अर्थात् श, स, ह की ऊष्म संज्ञा है और ये महाप्राण प्रयत्न से बोले जाते हैं। स स्थानेन द्वितीयाः अर्थात् ख, छ आदि द्वितीय वर्ण स स्थान से बोलना चाहिये। हकारेण चतुर्थाः अर्थात् घ, झ, आदि चतुर्थ वर्ण ह स्थान से बोले जाते हैं। सारांश यह कि दूसरे और चौथे वर्ण महाप्राण अर्थात् ह के योग से बोले जाते हैं।

देता है और जब खकारादि के साथ मिला हुआ आता है तब निषेध अर्थ कर देता है। यह बात विज्ञानसिद्ध है। क्योंकि प्रत्यक्ष का अर्थ निश्चय और परोक्ष का अर्थ संदिग्ध होने से अधिकतर निषेध ही है।

कवर्ग से लेकर पवर्ग तक पचीस अक्षर हैं। इनमें पाँच सानुनासिक हैं जो नकारार्थ में बतलाये गये हैं। बाक़ी बीस में दस ककारादि स्वतन्त्र अक्षर हैं और दस खकारादि संयुक्ताक्षर हैं जो हकार के योग से बने हैं। जिस प्रकार क में ह् मिलकर ख होता है, उसी प्रकार अन्य स्वतन्त्र अक्षरों में ह् मिलाने से घ, छ, झ, ठ, ढ, थ, ध, फ, भ आदि होते हैं। हम हकार के वर्णन में लिख आये हैं कि यह जब किसी अन्य अक्षर के साथ मिलता है तब स्वयं गुप्त होकर उस अक्षर का अभाव अर्थ कर देता है। यही दशा इन समस्त द्वितीय और चतुर्थ अक्षरों में पाई जाती है। खकार ककार के विरुद्ध और घकार गकार के विरुद्ध असर (अर्थ) रखता है। यही क्रम छ, झ, ठ, ढ, थ, ध, फ और भ पर्यंत है।

वैदिक वर्णमाला का क्रम वैज्ञानिक है और सृष्टि नियमानुकूल है, जैसा कि पंचवर्गों से विदित होता है। कंठ से लेकर क्रम क्रम ओष्ठ पर्यन्त ये पाँचों वर्ग फैले हुए हैं। अकार स्थान से किंचित बाहर की ओर हटकर कंठस्थान से कवर्ग की उत्पत्ति है। इसके पूर्व अकार का मूल और अकार के पूर्व हकार का मूल विद्यमान है। अर्थात् हकार और अकार के पश्चात् कवर्ग का ही स्थान है। अकार और हकार के धारावाहिक शब्द को सबसे प्रथम ककार ही रोकता और बाँधता है। इसलिये ककार का अर्थ बाँधना माना गया है। ककार अकार जैसे अक्षर को बाँध देता है इसलिये इसे बलवान्, बड़ा और प्रभावशाली आदि भी कह सकते हैं। यही कारण है कि ककार प्रजापति और सुख अर्थ में भी आया है। यों तो खकारादि सभी अक्षर अपने अपने स्थान में दूसरे शब्द को बाँधकर स्वयं प्रकाशित होते हैं। परन्तु सबसे प्रथम और सबसे आगे बढ़कर ककार ही कंठमूल में शब्द को बाँधता है। इसलिये बाँधना अर्थ

ककार के ही लिये रूढ़ है। ककार ऐसे स्थान से उत्पन्न होता है जिससे वह सबसे पहिले अकार और हकार को बाँधता है। इसलिये भी वह विशेषकर बाँधने, रोकने, अटकाने आदि अर्थों में आया है, जैसा कि कः, का, आदि शब्दों और उनके कौन, क्या, आदि अर्थों से ज्ञात होता है। क्योंकि यह ककार प्रश्न रोकने, बाँधने, शंका करने, उलझने आदि में ही उपस्थित होता है। इन्हीं भावों को लेकर इसका ┳ यह रूप बनाया गया है। यह रूप स्पष्टतया बता रहा है कि अकार वाली | इस सीधी शब्दरेखा को इस — आड़ी रेखा ने मूल में जाकर बाँधा है। केवल अकार को ही नहीं बाँधा किन्तु हकार को भी रोका है। यही कारण है कि इसका बंधन अकार रेखा के दोनों ओर हुआ है और अकार और हकार दोनों को बाँधते हुए दिखलाया गया है।

हम हकार के वर्णन में बता आये हैं कि हकार जब किसी अक्षर के साथ मिलता है तो उस अक्षर के विरुद्ध अर्थ पैदा कर देता है। यहाँ ककार के उच्चारण के साथ केवल हकार की नली खोलने मात्र से ख शब्द सुनाई पड़ता है। इसलिए खकार का भी अर्थ उपर्युक्त विवरणानुसार क के विरुद्ध ही होता है। जहाँ ककार का अर्थ बाँधना होता है वहाँ खकार का अर्थ खुला होता है। इसलिए यह आकाश के लिये रूढ़ है। आकाश की भाँति बंधनरहित खुली हुई चीज संसार में दूसरी कोई नहीं है। इसीलिये ख आकाश, पोल, छिद्र आदि अर्थों में आता है। ककार में हकार का चिन्ह मिलाने से खकार का ∫┐ यह रूप होता है। इस अक्षर के स्तम्भ में केवल एक ही ओर बंधन है, जो सिर्फ़ अकार को ही बाँधे हुए है और हकार के लिये दूसरी ओर स्थान खुला पड़ा है। हकार की नाभिरेखा अकार में जोड़ दी गई है, जो क और ह के संयोग से खकार का अर्थ और रूप बता रही है।

ककार के ही स्थान और प्रयत्न में केवल हकार के संयोगमात्र से खकार बन गया था पर अब उसी स्थान और उसी प्रयत्न से दूसरा अक्षर नहीं बन सकता। दूसरे अक्षर के लिये स्थान और प्रयत्न दोनों में फेरफार करना पड़ेगा और कण्ठ में ही देखना होगा कि ककार और खकार स्थान के पास ही और कौन सा अक्षर निकल सकता है। क स्थान से ज़रा हटकर जिह्वा को क प्रयत्न की अपेक्षा ज़रा दबाकर बोलने से गकार का उच्चारण होता है। गकार के लिये जब तक क स्थान और क प्रयत्न छोड़कर आगे न बढ़ा जाय, कभी संभव नहीं है कि ग अक्षर उच्चरित होकर सुनाई पड़े। अतएव स्थानान्तरित होने से ही अर्थात् प्रथम स्थान प्रयत्न में गति होने से ही गकार का अर्थ गमन, हटना, स्थान छोड़ना और पृथक् होना आदि हुआ है और ग धातु गमन अर्थ में ली गई है। इसका ᑫ यह रूप भी इसी अर्थ को सूचित करता है। कोई भी चित्रकार गति का चित्र बनाते समय स्थानान्तर रेखा को ही दिखलाकर गति का रूप बना सकता है। इस गकार का ᒍ यह रूप बनाकर भी ऊपर नीचे, अगल बगल, जिधर से देखिये उधर से गति करता हुआ वही भाव दिखलाया गया है। किन्तु बिना अकार के संयोग के इसका उच्चारण स्पष्ट नहीं होता। इसलिये । यह अकार स्तम्भ उसी गतिवाली रेखा में जोड़कर उपरिलिखित रूप बना दिया गया है। इसी गकार में हकार जोड़ने से घकार होता है और हकार की प्रकृति के अनुसार गकार के विरुद्ध अर्थ हो जाता है। गकार का अर्थ गति, गमन, पृथक्ता आदि होता है, अतः घ का अर्थ रुकावट, ठहराव और एकाग्रता आदि है। यही कारण है कि घकार सम्बन्धी शब्द घन, सघन, संघट्ट, घट, घोर, मेघ, घनीभूत आदि ढंग के होते हैं। इन शब्दों में घ का अर्थ भासित होता है। इसका रूप गकार में हकार का चिन्ह लगाकर घ इस प्रकार बनाया गया है।

कवर्ग के बाद ही ओष्ठ की ओर जो स्थान और प्रयत्न हो सकता है वह फिर एक वर्ग को आरंभ करता है। यह वर्ग चवर्ग है। चवर्ग का प्रथम अक्षर चकार अपने वर्ग को आरम्भ करता है, इसलिये वर्ग को फिर आरम्भ करने के कारण चकार का अर्थ फिर, पुनः, बाद, दूसरा और अन्य आदि किया गया है। यह ऊपर नीचे के जिह्वा और तालु को मिलाता है। मिलना बिना दो के नहीं होता। इसलिए इसका अर्थ भिन्न भी होता है। भिन्न, फिर, बाद, पुनः, आदि भाव किसी पूर्ण पदार्थ में नहीं होते। पुनः पुनः, भिन्न भिन्न, भाव तभी तक रहते हैं जब तक कोई पदार्थ अपूर्ण है। अतएव चकार का अर्थ अपूर्ण और अङ्गहीन आदि भी होता है। अपूर्ण को खण्ड खण्ड भी कह सकते हैं; क्योंकि खण्ड खण्ड अथवा पुनः पुनः और भिन्न भिन्न में कोई अन्तर नहीं है। इसी भाव को लेकर इसका ╕ यह रूप बनाया गया है। तालु और जिह्वा का मिलान तथा अपूर्ण और पुनः पुनः अथवा खण्ड खण्ड का एक साथ दर्शानेवाला = यह चित्र बनाकर चकार का अर्थ स्पष्ट कर दिया गया है। इन्हीं दो पाइयों में अकार का चिह्न जोड़ने से ऊपर का रूप बनता है। चकार में हकार मिलने से छ होता है। हकार अपनी प्रकृति के अनुसार चकार में भी मिलकर चकार के विरुद्ध अर्थ पैदा करता है। चकार पुनः पुनः, खण्ड खण्ड, अपूर्ण, अङ्गहीन आदि अर्थों का द्योतक है परन्तु हकार के मिलने से वही छकार बनकर छाया, आच्छादन, छत्र और परिच्छद आदि शब्दों में सांगोपांग, पूर्ण, तथा अखण्ड आदि अर्थों की झलक दिखला रहा है। छन्द शब्द के अन्दर घुसकर उसने अपना रूप बिलकुल ही प्रकट कर दिया है। छन्द का अर्थ ज्ञान है। ज्ञान में कभी खण्डभाव नहीं होता। ज्ञान हर समय हर जगह अपने पूर्ण रूप से विद्यमान रहता है, इसीलिए छ ज्ञान, पूर्ण, छाया आदि अर्थ में आता है। उपर्युक्त चकार के चिह्न में हकार का संक्षिप्त रूप मिलाकर छकार को ╫ इस प्रकार का

बनाया गया है। इसमें चकार का पूर्ण रूप और हकार की निचली रेखा मिली हुई है।

जिस प्रकार क और ख के बाद दूसरे स्थान और प्रयत्न से कण्ठ-स्थान में ही गकार के लिये स्थान और प्रयत्न बदलना पड़ा है और अपने वर्ग के मूल कवर्ग के स्थान से गति कर जाने के कारण गकार का अर्थ गति हुआ है, ठीक उसी प्रकार च और छ से आगे चलकर और किंचित् दूसरे प्रयत्न से पैदा हुए जकार का अर्थ भी पैदा होना, जन्म लेना, उत्पन्न होना और नूतनत्व आदि है। जन्म, जननी आदि ज धातु से ही बनते हैं। पैदा होने का तात्पर्य केवल नूतन रूप धारण करना या विकास प्राप्त करना है। नूतन रूप बिना गति के हो ही नहीं सकता। इसलिये गकार की भाँति इसका भी अर्थ गति अर्थात् जन्म रक्खा गया है। वही बात इसके रूप से भी पाई जाती है। कोई भी चित्रकार जब किसी पदार्थ के उत्पन्न करने का चित्र खींचना चाहता है तो सबसे पहिले उसका ध्यान किसी बीजांकुर की ओर जाता है। इसी भाव को लेकर इस जकार का रूप

इस प्रकार बनाया गया है। इस रूप में इतना बीजांकुर का चित्र है और । यह चिह्न अकार की सीधी रेखा है। इसी जकार में हकार जोड़ने से झ होता है और जकार के विरुद्ध अर्थ रखता है। जन्म के विरुद्ध मृत्यु ही है, इसलिये झ का धात्वर्थ नाश होता है! झ से झृणाति आदि शब्द बनते हैं, जो मृत्यु और नाश आदि के सूचक हैं।

जकार में हकार की रेखा जोड़कर झ का रूप इस प्रकार बनाया गया है। इसमें जकार का पूरा रूप और हकार का निचला हिस्सा मिला हुआ है।

यह बात ध्यान रखने योग्य है कि कवर्ग और चवर्ग आदि क्रमशः ओष्ठ की ओर आ रहे हैं। यह टवर्ग पाचों वर्गों में मध्यस्थानीय है। मध्य

तालु में जिह्वा के संयोग से इसका उच्चारण होता है। वर्ग संख्या और स्थान प्रयत्न दोनों दशाओं में यह मध्यम है। अतएव टकार मध्यम, साधारण आदि अर्थों में आता है। साधारण दशा संशय, संदिग्ध, असमंजस भावयुक्त होती है। अतः टकार निर्बल अर्थ में भी लिया जाता है। निर्बलता ही संकुचित करती है, इसलिये संकोच या दबाव अर्थ में भी इसका उपयोग हुआ है। निर्बलता और दबाव प्राप्त करने की इच्छा कभी किसी की नहीं होती। इससे इसका अर्थ 'इच्छा विरुद्ध' भी हुआ है। तात्पर्य यह है कि टकार इन्हीं उपर्युक्त नम्र और निर्बल भावों का द्योतक है जो इससे बने हुए कष्ट, रुष्ट, नष्ट, भ्रष्ट आदि शब्दों से पाये जाते हैं। इन्हीं उपर्युक्त भावों को लेकर ही इसका यह रूप भी बनाया गया है। इसमें मध्यम दशा और तालु में छूती हुई जिह्वा के भावों का एक साथ समावेश है। मध्यम दशा का प्रदर्शक यह रूप है।

आज तक जितने चित्रकार हुए हैं, सबने पूर्णता का यह चित्र बनाया है। इसके मध्य में एक रेखा डालने से ऐसा रूप होगा। मध्य रेखा से उत्पन्न दोनों भागों को अलग कर डालें तो एक भाग का वही रूप होगा जो ऊपर टकार का बतलाया गया है। इसी में अकार की रेखा जोड़ने से टकार का पूर्ण रूप होता है। बोलते समय टकार के उच्चारण में तालु को छूती हुई जिह्वा जो रूप धारण करती है वही टकार का चित्र है। इसी टकार में हकार जोड़ने से ठकार हो जाता है और अर्थ भी उलट जाता है। टकार के मध्यम, विकल और निर्बल आदि भाव दूर होकर निश्चय, प्रगल्भता, पूर्णता आदि भाव पैदा

हो जाते हैं, जो इससे बने हुए कठिन, कठोर, शठ, मठादि शब्दों में पाये जाते हैं। टकार के रूप में केवल हकार की नाभिरेखा जोड़ने से यह रूप बनता है। इसमें टकार का पूर्ण रूप और हकार की रेखा मिली हुई है।

जिस प्रकार क, ख, के बाद ग और च, छ, के बाद ज स्थानांतर व प्रयत्नान्तर होने के कारण गति और उत्पत्ति आदि अर्थों में लिये गये हैं उसी प्रकार ट, ठ, के बाद भिन्न स्थान और भिन्न प्रयत्न से उच्चरित होने के कारण डकार भी क्रियार्थ में लिया गया है और डुकृञ्=करणे धातु क्रियार्थ में व्यवहृत हुआ है। बिना दो पदार्थों के संयोग के कोई भी क्रिया नहीं हो सकती। संयोग भौतिक होता है इसलिये यह संयोगात्मक क्रिया प्रकृति अर्थ में घटती है। यही कारण है कि डकार जड, पिंड, रुंड, मुंड, प्रचंडादि शब्दों में आकर अपनी जड़ता का परिचय दे रहा है। यही अर्थ इसके रूप से भी प्रकट होता है। क्रिया का चित्र इससे अच्छा और नहीं हो सकता और न जड़ता का भाव ही इससे अधिक अन्य चित्र के द्वारा दिखाया जा सकता है। इसके प्रत्येक विभाग क्रिया में परिणत हैं, और संयोगिक भाव दिखा रहे हैं। इसके गठन से ही पता लगता है कि इसमें जरा भी नम्रता, सजीवता नहीं है। इसी में अकार की रेखा जोड़कर इसका यह पूर्ण रूप बनाया गया है। इसी डकार में हकार जुड़ने से ढकार बनता है और डकार के विरुद्ध अर्थ ध्वनित करता है। जहाँ डकार क्रिया और अचेतन अर्थ में है वहाँ ढकार निश्चित, निश्चल, धारित, आधिपत्यादि अर्थों में लिया गया है। इससे बने हुए आरूढ, रूढि आदि शब्द इसकी निश्चलता और सजीवता को बताते हैं।

क्योंकि दृढ़ता विना चेतन के हो ही नहीं सकती और विना ज्ञान के कोई किसी पर आरूढ भी नहीं हो सकता और न निश्चलता अथवा आधिपत्य ही जमा सकता है। इसका रूप बनाने के लिये डकार में केवल हकार की नाभिरेखा मिलाने से यह रूप ढ बनता है।

कवर्ग से लेकर टवर्ग तक जितने स्थानों और प्रयत्नों का वर्णन हुआ है, उनमें जिह्वा के लिये कहीं रुकावट नहीं आई। किंतु टवर्ग से आगे बढ़ते ही जिह्वा को दाँतों की चौखट से टकराना पड़ता है और दाँतों के निचले स्थान में कुछ प्रयत्न करने पर जो शब्द सुनाई पड़ता है वह तकार प्रतीत होता है। तकार का उच्चारण दांतों के तल भाग से होता है। इसलिये तकार तलस्थान, नीचे आदि अर्थों में प्रयुक्त हुआ है और त धातु किनारे के अर्थ में व्यवहृत है। तल और पार में कोई अन्तर नहीं है। दोनों एक ही भाव के सूचक हैं। इन्हीं अर्थों के सूचित कराने वाले तल, तरल और तथा आदि शब्द हैं। इसका ⊓ यह रूप तल आदि का भाव बता रहा है और निचले दाँतों का ढाँचा दर्शा रहा है। इसी में अकार का चिन्ह जोड़ने से त यह पूर्ण रूप बन जाता है। इसी त में ह मिलाने से थ अक्षर बनता है। और त के विरुद्ध ऊपर, ठहरना, आधेय आदि अर्थों को ध्वनित करता है। तकार नीचे अर्थ में है तो थकार ऊपर अर्थ में है। त इधर तो थ उधर, तकार आधार तो थकार आधेय, तकार इस पार तो थकार उस पार का भाव सूचित करता है। तात्पर्य यह कि तकार या थकार दोनों एक संपुटपात्र की भाँति हैं। संपुटपात्र का जो भाग ज़मीन पर है वह त और जो भाग ऊपर है वह थ है। इसी तरह नदी का किनारा जो हमसे दूर है वह त और जो हमारे पास है वह थ है। तकार में हकार की नली जोड़कर थकार का रूप बनाया गया है जो इस प्रकार थ है।

कवर्ग में ग, चवर्ग में ज, टवर्ग में ड जिस प्रकार स्थानान्तर होने के कारण गति, जन्म और क्रिया के वाचक हुए हैं उसी प्रकार तवर्ग में दकार भी स्थानान्तर होने की वजह से गति का अर्थ रखता है और दा धातु का देना अर्थ होता है, जो स्थानान्तर, परिवर्तन आदि का वाचक है। क्योंकि जब कोई पदार्थ किसी को दिया जाता है तो उसका स्थानान्तर ज़रूर होता है—गति अवश्य होती है—क्रिया ज़रूर होती है—परिवर्तन, नूतनत्व और जन्म ज़रूर होता है। इसलिये दकार का अर्थ स्थानान्तर अर्थात् दान किया गया है। यही भाव इसके रूप में भी दिखलाया गया है। पूर्णता अथवा किसी भण्डार का चित्र O यही हो सकता है। पूर्ण पदार्थ से अगर कुछ निकाल लिया जाय—दे दिया जाय—स्थानान्तर कर दिया जाय तो वह कम दिखलाई पड़ेगा और जितनी क्षति हुई होगी वह भी दिखेगी।

दकार के इस रूप में ये दोनों बातें दिखाई गई हैं। इस रूप से अच्छी तरह प्रकट हो रहा है कि किसी पूर्ण वस्तु से नीचे का लटकता भाग निकाल डाला गया है—दे दिया गया है। इसी में अकार का चिन्ह जोड़ने से इस प्रकार का पूर्ण द बनता है। इसी दकार में हकार जोड़ने से ध होता है। और जहाँ दकार का अर्थ देना होता है वहाँ धकार का अर्थ तद्विरुद्ध न देना अर्थात् धारण करना, रख लेना आदि होता है। इसी अभिप्राय से ध धातु का अर्थ ही धारण करना है, जिससे धरणी, धृति, धैर्यादि शब्द बनते हैं। इसका रूप केवल दकार में हकार का चिन्ह मिलाने से इस प्रकार का बनता है।

कंठ, तालु और दंत के तल भाग में होते हुए ओष्ठों की ओर आकर ओष्ठ से जो प्रथम अक्षर उच्चरित होता है वह प है। पवर्ग को छोड़कर

सभी अक्षरों के उच्चारण में मुखद्वार खुला रहता है, किंतु पकार के उच्चारण का संकल्प होते ही ओष्ठकपाट वंद हो जाते हैं और शब्दधारा मुख की मुख में ही रह जाती है—वहीं रक्षित हो जाती है। इसी कारण पकार रक्षा अर्थ में आया है, पा=रक्षणे धातु बनाया गया है और पा पिता, पातु, पालन आदि शब्दों में प्रयुक्त हुआ है। इसका रूप दो ओष्ठों को = इस प्रकार जोड़कर रक्षारूपी संदूक़ का चित्र बनाते हुए ▭ इस प्रकार बनाया गया है। इसी में अकार की मात्रा जोड़ने से प यह रूप बन जाता है। इसी पकार में हकार मिलने से फ होता है और प के विरुद्ध खोलना और खुलना आदि अर्थ रखता है। जिस प्रकार रक्षित का अभिप्राय बंद होना है उसी प्रकार अरक्षित का अभिप्राय खुला हुआ होता है। ओष्ठ बंद करके हकार का उच्चारण करने से फ़कार सुनाई पड़ेगा। जिस प्रकार संदूक़ में छोटा सा छिद्र कर देने से संदूक़ में रक्षित पदार्थ अपनी सूचना बाहर देने लगते हैं उसी प्रकार बंद ओष्ठों में ज़रा सा छिद्र करके हकार का उच्चारण करने से फकार अपना रूप प्रदर्शित करता है। यही कारण है कि इससे बने हुए फुल्ल, प्रफुल्ल, स्फुट, प्रस्फुट, स्फुरण आदि शब्द खुलने अर्थ में आते हैं। इसका रूप पकार में हकार का चिन्ह जोड़कर फ इस प्रकार बनाया गया है।

कवर्ग का गकार, चवर्ग का जकार, टवर्ग का ढकार और तवर्ग का दकार जिस प्रकार स्थानान्तर होने के कारण क्रमशः गति, जन्म, क्रिया और देना आदि अर्थ रखते हैं ठीक उसी प्रकार पकार और फकार के आगे ओष्ठ के सहारे गालों के प्रयत्न को प्रबल बनाने से बकार अक्षर बनता है और अन्तर्गति अर्थात् घुसना, समाना, छिपना आदि भावों को सूचित

करनेवाला अर्थ रखता है। इस छिपाव वा गुप्त क्रिया का भाव लेकर इसका [glyph] यह रूप बनाया गया है। बीच की रेखा छिपा हुआ भाव दिखा रही है और बाहर का चौकोर घेरा कोठरी का इशारा करता है। इसी में अकार रेखा जोड़ने से [glyph] यह रूप बनता है। इसी बकार में हकार मिलने से भ अक्षर बनता है और बकार के विरुद्ध प्रकट, जाहिर, बाहर आदि अर्थ रखता है, इसलिए भा धातु प्रकाश अर्थ में आता है और इसी से आभा, प्रभा आदि शब्द बनते हैं। इसका रूप बकार में हकार का चिह्न मिलाकर [glyph] इस प्रकार बनाया गया है।

जितने अक्षर केवल प्रयत्न से बोले जाते हैं वे स्वर और जिनमें स्थान प्रयत्न दोनों का उपयोग होता है वे व्यंजन हैं। ष, श, स* भी स्वर ही होते अगर अपने अपने स्थान को न पकड़ते। अ, ई, उ की भाँति मुख में एक सीटी का सा स्वर भी होता है। उसी स्वर को लेकर ये तीनों अक्षर छोटी बड़ी ध्वनि के कारण तीन प्रकार के हो गये हैं और छोटे बड़े क्रम से एक ही अर्थ रखते हैं। किसी को दूर से इत्तिला देने के लिये पहले जमाने में शंख फिर नफ़ीरी और आजकल ब्युगुल काम में आता है। परंतु थोड़े फ़ासले के लिए सीटी और बहुत ही थोड़े फ़ासले के लिये सकार का ही प्रयोग होता है। मुम्बई में तो इसकी इतनी अधिकता है कि बिना इसके काम ही नहीं चलता। वहाँ दूसरे को सूचना देने के लिए यह काम में लाया जाता है। दूसरे को सूचना देना अपने अभिप्राय का प्रकाश करना है। इसीलिये इन तीनों अक्षरों का अर्थ

---

*वर्तमान प्रचलित वर्णमाला में प्रथम ष द्वितीय श के स्थान में और द्वितीय श प्रथम ष के स्थान में लिखा जाता है।

प्रकाश करना ही होता है। इनमें जो अक्षर जितना प्रबल अर्थात् बड़ा है उससे उतने ही दर्जे का प्रकाश बोध कराया गया है। अधिक से अधिक प्रकाश अर्थात् हस्तामलक प्रकाश को ज्ञान कहते हैं। इसलिए इन तीनों में बड़े ष का अर्थ ज्ञान होता है जिससे ऋषि आदि शब्द बनते हैं। मध्यम शकार से प्रकाश, आकाश, नाश आदि शब्द बनते हैं और प्रत्यक्ष आग्नेय प्रकाश का अर्थ रखते हैं। इसी प्रकार निकृष्ट सकार से इत्तिला पहुँचाना, ज़ाहिर करना, प्रकाशित करना अर्थ लिया गया है और स=शब्दे धातु बनाया गया है, जिससे ह्लसति आदि परस्मैपदसूचक शब्द बनते हैं। स साथ अर्थ में भी आता है और बहुधा तृतीय पुरुष के लिए भी प्रयुक्त होता है। इन दोनों से भी ज़ाहिर करना ही अर्थ निकलता है। क्योंकि जो साथ है वह प्रकट है ही और जो तृतीय दूर खड़ा है वह भी प्रकट ही है। इन्हीं भावों को लेकर छोटे बड़े ष, श, स का रूप बनाया गया है। मुख के तालुप्रदेश में जिह्वा को लगाकर आ शब्द की सहायता से ये उच्चरित होते हैं। इसी के अनुरूप इनका रूप बनाया गया है। इनके रूप में O यह भाग मुखाकृति का है। इनमें ० इस प्रकार जिह्वा और तालु का रूप और । इस प्रकार अकार का रूप लगाया गया है। और तीनों के रूपों को क्रमशः

ष श स इस प्रकार पूर्णता को पहुँचाया गया है।

क्ष, त्र, ज्ञ संयुक्ताक्षर हैं। क और ष के संयोग से क्ष, त और र के संयोग से त्र तथा ज और ञ के संयोग से ज्ञ बना है। ककार का अर्थ बाँधना, रोकना और षकार* का अर्थ ज्ञान है। इसलिए दोनों से

* षकार भी स्वर से मिलता हुआ एक प्रकार का अर्ध स्वर ही है। इसलिए यह क्षकार अक्षर को उत्पन्न कर सका है। त्र में जिस प्रकार ऋ स्वर मिला है और ज्ञ में ञ अनुस्वार रूपी स्वर का प्रतिनिधि मिला है उसी प्रकार क्ष में भी ष मिला है जो एक प्रकार का स्वर ही है। इन्हीं तीनों स्वरों की सहायता से ये तीनों स्वतन्त्र अक्षर माने गये हैं।

बने हुए क्ष का अर्थ रुका हुआ ज्ञान, बन्द ज्ञान, अज्ञान, निर्जीव अर्थात् नाश अथवा मृत्यु आदि होता है। इससे बने हुए क्षय, क्षयी और पक्ष आदि शब्द नष्टात्मक अर्थ को बतलाते हैं। इसका रूप भी उक्त दोनों अक्षरों के योग से [चिह्न] इस प्रकार बना है। इसमें क और ष का रूप मिला हुआ है। त्र में तकार का अर्थ नीचे तक और रकार का अर्थ देना है। दोनों को मिलाकर त्रकार का अर्थ नीचे तक देना, सब देना, कुल देना होता है। यही कारण है कि त्र एकत्र, सर्वत्र आदि शब्दों में आकर कुल, सर्व आदि अर्थ सूचित करता है। इसका रूप तकार और रकार के संयोग से [चिह्न] इस प्रकार बना है। ज्ञ अक्षर में जकार का अर्थ जन्म और ञकार का अर्थ नहीं है। अतः दोनों से बने हुए ज्ञकार का अर्थ अजन्मा, नित्य आदि हुआ। संसार में अजन्मा और नित्य दो ही पदार्थ हैं, एक चेतन दूसरा जड़। एक का गुण कर्म है और दूसरे का गुण ज्ञान है। इसीलिए यह ज्ञ कर्म सूचित कराने के लिए यज्ञ आदि शब्दों में और ज्ञान सूचित कराने के लिये ज्ञान और प्रज्ञा आदि शब्दों में आता है और ज्ञा धातु ज्ञान अर्थ बतलाता है। इसका रूप ज और ञ के संयोग से [चिह्न] इस प्रकार बना है।

ळकार के उच्चारण करने में मुख के सारे स्थान और सारे प्रयत्न काम में लाए जाते हैं। इसीलिए समस्त स्थान प्रयत्न से उत्पन्न होनेवाले इस अक्षर का अर्थ वाणी लिया गया है। क्योंकि वाणी सब स्थानों और प्रयत्नों से बनती है। वेद के अग्निमीळे मन्त्र में यह अक्षर ईळे शब्द के अन्दर आता है। वेद में ही एक जगह लिखा है कि ईळा गिरा मनुर्हितम् अर्थात् मनुष्य की वाणी का नाम इळा है। इसी तरह निघण्टु में भी ईळा शब्द वाणी के पर्याय में कहा गया है। इसका रूप मुखाकृति और शब्दाकृति के समस्त

अवयवों से बनाया गया है। O इस अकाराकृति, ० इस अनुस्वाराकृति और ‖ इस शब्दधाराकृति के योग से वाणी का सारा विषय स्पष्ट होता है, अतः इन तीनों चिन्हों के योग से इसका यह रूप बनाया गया है।

जिन अक्षरों का अब तक वर्णन किया गया है उन्हीं से धातु बने हैं और उन्हीं धातुओं से शब्द तथा उन्हीं शब्दों से ही वाक्य अर्थात् वेदों के मंत्र भी बने हैं। किस प्रकार एक एक अक्षर अपना वैज्ञानिक अर्थ रखता है और किस प्रकार वह अपनी ध्वनि, बनावट, असर और लिपि से विज्ञानयुक्त सिद्ध होता है यह गत पृष्ठों में अच्छी प्रकार दिखला दिया गया है। अब यहाँ इस बात के दिग्दर्शन कराने का यत्न करते हैं कि उन्हीं वर्णार्थों से किस प्रकार धात्वर्थ निकलता है। पाणिनि मुनि ने बहुत ही आदिमकालीन धातुकोष को संचित करके धातुपाठ के नाम से एक पुस्तिका संकलित कर दी है। यद्यपि इस धातुपाठ में बहुत से धातु वेदों में आये हुए शब्दों के अतिरिक्त शब्दों के भी हैं, तथापि वेदों के शब्दों को सुलझानेवाले धातु भी अधिक परिमाण में हैं। हम यहाँ कुछ धातुओं का अक्षरार्थ करके देखते हैं और पता लगाते हैं कि क्या हमारे अक्षरार्थ के साथ उनका मेल मिलता है? सबसे पहिले निश्चित किया हुआ अक्षरार्थ हम लिखते हैं और फिर धातुपाठ के कुछ धातुओं से उनका सम्बन्ध दिखलाते हैं।

अ—सब, पूर्ण, व्यापक, अव्यय, एक, अखण्ड, अभाव, शून्य।

इ—वाला (जैसे मकानवाला) गति, नज़दीक।

ए—नहीं गति, गतिहीन, निश्चल, पूर्ण, अव्यय।

उ—ऊपर, दूर, वह, तथा, और आदि।

ओ—अन्य नहीं, वही, दूसरा नहीं।

ऋ—सत्य, गति, बाहर।

ऌ—सत्य, गति, भीतर।

०, ञ, ण, न, ङ, म, ᳲ—नहीं, अभाव, शून्य।

:, ह—निश्चय, अन्त, अभाव, संकोच, निषेध।

क—बाँधना, बलवान्, बड़ा, प्रभावशाली, सुख।

ख—आकाश, पोल, खुला, छिद्र।

ग—गमन, हटना, स्थान छोड़ना, पृथक् होना।

घ—रुकावट, ठहराव, एकाग्रता।

च—फिर, पुनः, बाद, दूसरा, अन्य, भिन्न, अपूर्ण, अङ्गहीन, खण्ड।

छ—छाया, आच्छादन, छत्र, परिच्छद, अखण्ड आदि।

ज—पैदा होना, जन्म लेना, उत्पन्न होना, नूतनत्व, गति।

झ—नाश होना।

ट—मध्यम, साधारण, निर्बल, संकोच, इच्छाविरुद्ध।

ठ—निश्चय, प्रगल्भता, पूर्णता।

ड—क्रिया, प्रकृति, अचेतन, जड़।

ढ—निश्चित, निश्चल, धारित, चेतन।

त—तलभाग, नीचे, इधर, आधार, इस पार, किनारा, अन्तिम स्थान।

थ—ठहरना, आधेय, ऊपर, उधर, उस पार।

द—गति, देना, कम करना।

ध—न देना, धारण करना, रख लेना।

प—रक्षा।

फ—खोलना, खुलना।

ब—घुसना, समाना, छिपना।

भ—प्रकट, जाहिर, बाहर, प्रकाश।

य—पूर्ण गति, जो, भिन्न वस्तु।

र—देना, रमण करना।

ल—लेना, रमण करना।

व—अन्य, पूर्ण भिन्न, अथवा, गति, गंध।

ष—ज्ञान, श—प्रकाश, स—साथ, शब्द, वह।

त्त—बंध ज्ञान, अज्ञान, निर्जीव, नाश, मृत्यु।

त्र—नीचे तक देना, कुल देना, सब देना, कुल, सब, सर्व, समग्र।

ज्ञ—अजन्मा, नित्य, कर्म, ज्ञान।

ळ—वाणी।

इस अक्षरार्थ में ही अनेकों अर्थों का भाव लक्षित और व्यंजित होता है पर जब कई अक्षर एक में मिलकर धातुरूप धारण करते हैं तो उस मिश्रण से और भी अनेक भाव उत्पन्न हो जाते हैं। जैसे प्रत्येक ओषधि में अनेकों गुण होते हैं पर जब अनेकों ओषधियों का सम्मिश्रण होता है तो पहिले गुणों की अपेक्षा अनेकों गुना अधिक नवीन गुणों का प्रादुर्भाव हो जाता है। इसी तरह वर्णार्थों और धातुओं के सम्मिश्रण में भी अधिकाधिक अर्थों की सम्भावना है। इसलिए यह न समझ लेना चाहिए कि धातुओं का अर्थ जितना धातुपाठ में है उतना ही है अधिक नहीं। इस विषय में पाणिनि मुनि ने अष्टाध्यायी ६।१।६ में एक 'सन्यङो' सूत्र लिखा है। उस पर पतंजलि मुनि ने महाभाष्य में लिखा है कि 'बह्वर्थापि धातवो भवन्ति' अर्थात् धातुएँ बहुत अर्थवाली भी होती हैं। इस पर स्वामी दयानन्द सरस्वती ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका के पृ० ३८४ में लिखते हैं कि इस महाभाष्यकार के वचन से यह बात समझना चाहिए कि एक धातुपाठ में धातुओं के जितने अर्थ लिखे हैं उससे अधिक और भी बहुत अर्थ होते हैं जैसे ईड धातु का स्तुति करना अर्थ तो धातुपाठ में है पर चोदना आदि भी समझे जाते हैं।

धातुएँ दो प्रकार की हैं—एक स्वाभाविक और दूसरी कृत्रिम। वेद के शब्दों की जितनी धातुएँ हैं वे स्वाभाविक हैं और मनुष्यों की कल्पना से जो धातुएँ बनी हैं वे कृत्रिम हैं। जो कृत्रिम हैं उनके लिए विश्वासपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि वे वैज्ञानिक आधार पर अक्षरार्थों के अनुसार बनाई गई होंगी। किन्तु जो वैदिक हैं—ईश्वरकृत हैं उनके लिए कभी यह शंका ही नहीं हो सकती कि वे अक्षरार्थ के अनुसार हैं या नहीं। क्योंकि

मनुष्य के मुख के समस्त स्थान और प्रयत्नों की रचना परमात्मा ने ही की है। उसी ने इतने वर्ण मनुष्य के मुख से उच्चरित होने का आयोजन किया है और उसी ने उन वर्णों के द्वारा मनोभाव प्रकट करने का सामर्थ्य दिया है। इसलिए यह असम्भव है कि उसने उन वर्णों का कुछ भी अर्थ न सोचा समझा हो और यह निर्विवाद है कि उसका सोचा समझा सार्थक होता है। अतएव ईश्वरकृत धातुएँ वर्णार्थों के अनुसार ही बनी हैं इसमें जरा सा भी सन्देह नहीं है। जो हाल धातुओं का है वही प्रत्ययों का भी है। प्रत्यय भी एक प्रकार के शब्द ही हैं। उनके भी अर्थ निश्चित हैं और अक्षरार्थों के अनुकूल ही हैं। यही हाल अव्यय, उपसर्ग, निपात और समस्त उन चिह्नों का है जो लिङ्गों, वचनों, विभक्तियों, कालों और अन्यान्य स्थानों में प्रयुक्त होते हैं। किन्तु यहाँ इन सब पर विचार करने का न तो समय ही है और न इस पुस्तक में स्थान ही है। इसलिए यहाँ पर थोड़ी सी धातुओं के वर्णविश्लेषण करके दिखलाते हैं कि वे किस प्रकार विज्ञानमूलक हैं और अक्षरार्थ के अनुकूल हैं।

भग्—भ=प्रकाश, ग=गति अर्थात् गतिमान् प्रकाश=ऐश्वर्य।

आप्—आ=चारों ओर से, प=रक्षा करना अर्थात् चारों ओर से रक्षा करना=व्यापक।

णश्—ण=नहीं, श=प्रकाश अर्थात् नहीं प्रकाश=अदर्शन।

अद्—अ=नहीं, द=देना अर्थात् नहीं देना, रख लेना, पेट में डालना=भक्षण।

भू—भ=प्रकाश, उ=दूर तक अर्थात् दूर तक प्रकाश, हमेशा जाहिर, सदैव विद्यमान=सत्ता।

आप्लृ—आ=हर तरफ़, प=रक्षा करना, लृ=भीतर गति अर्थात् हर तरफ़ से भीतर रक्षा किए हुए=व्याप्ति।

चर्—च=बार बार, र=बाहर गति अर्थात् बार बार बाहर गति=चलना।

मर्—म=नहीं, र=रमन अर्थात् रमन नहीं, क्रिया नहीं, अस्तित्व नहीं=मरना।

हु—ह=अभाव, उ=दूर तक अर्थात् दूर तक अभाव, बिलकुल नाश=दे देना, जला डालना।

मख—म=नहीं, ख=छिद्र अर्थात् छिद्ररहितता, त्रुटिरहित श्रेष्ठतम कर्म=यज्ञ।

हन्—ह=निश्चय, न=नहीं अर्थात् निश्चयपूर्वक नहीं, बिलकुल अभाव=हिंसा।

यज्—इ=गति, अ=पूर्ण, ज=उत्पन्न करना अर्थात् पूर्ण गति उत्पन्न करना=देवपूजा करना, संगति करना और दान देना।

वैदिक भाषा में सन्धिविज्ञान भी बड़ी ही बुद्धिपूर्वक रचना के साथ स्थिर किया गया है। सन्धिविज्ञान दो सिद्धान्तों पर क़ायम है—एक तो वर्णमैत्री पर और दूसरे सुखोच्चारण पर। वर्णमैत्री का सिद्धान्त ज़्यादातर एक ही स्थान से उच्चरित होनेवाले वर्णों में पाया जाता है परन्तु सुखोच्चारण का सिद्धान्त सरलता पर अवलम्बित है। यहाँ हम दोनों प्रकार के नमूने दिखलाते हैं। टकार की जब सकार के साथ सन्धि होती है तो सकार का रूप ष हो जाता है। इसी तरह ऋ के आसपास जब स आता है तो उसका भी रूप ष हो जाता है, जैसे—कष्ट, रुष्ट, पुष्ट और ऋषि, वर्षा, वृष आदि। इसका कारण यही है कि ऋ, ट और ष के उच्चरित होने का एक ही स्थान है। इसी तरह च के साथ श का भी सम्बन्ध है। पश्चात्, पश्चात्ताप, निश्चित और पुनश्च आदि प्रयोग इसी सिद्धान्त के अनुसार होते हैं। इसका भी कारण यही है कि च और श का उच्चारण एक ही स्थान से होता है। इसी तरह प्रत्येक वर्ग का प्रत्येक वर्ण अपने ही वर्ग के अनुनासिक से मिलता है, ग़ैर से नहीं, जैसे—गङ्गा, चञ्चल, पण्डित, दन्त और शम्भु आदि। परन्तु जिन वर्णों के पास कोई निज का सानुनासिक नहीं है वे आवश्यकता पड़ने पर

अनुस्वार के ही साथ मिलते हैं, जैसे संसार, वंश, हंस आदि। ये तो वर्णमैत्री के नमूने हैं। अब सुखोच्चारण के दो एक नमूने दिखलाते हैं। यह सभी जानते हैं कि सत् और चरित्र एक साथ बोलने में दिक़्क़त होती है क्योंकि त दन्त्य है, उसका उच्चारण दाँत के पास से होता है और च तालव्य है, उसका उच्चारण तालु से होता है। इस दिक़्क़त को हटाकर सुखोच्चारण बनाने के लिए तकार को भी चकार कर लिया गया और सत् चरित्र का सच्चरित्र हो गया। इसी तरह बृहत् जातक का बृहज्जातक और सत् इच्छा का सदिच्छा आदि प्रयोग किये जाते हैं। हम लिख आये हैं कि वर्ग का तृतीय अक्षर ह के योग से वर्ग का चतुर्थ अक्षर हो जाता है। उसी क़ायदे के अनुसार बृहद् हवन का बृहद्धवन हुआ है। अग्नि आधान का अग्न्याधान और मनः कामना का मनस्कामना आदि प्रयोग भी इसी सुखोच्चारण के ही लिए किए गये हैं। संभव है इसमें कुछ अपवाद भी हों पर वे बहुत थोड़े हैं। भाषा की प्रशस्त रचना उपर्युक्त सिद्धान्त पर ही हुई है। क्योंकि वर्णार्थवाली भाषा की सन्धि में यदि सुखद और स्वाभाविक वर्णविपर्यय की गुंजायश न की जाती तो भाषा की दुरूहता बेहद बढ़ जाती। भाषा को अविचल और सार्थक रखने के लिए ही इतने कौशल के साथ अक्षरविज्ञान, धातुविज्ञान और सन्धि-विज्ञान का आयोजन किया गया है।

यहाँ तक के वर्णन से यह स्पष्ट हो गया है कि शब्द के साथ अर्थ का स्वाभाविक सम्बन्ध है। आदि सृष्टि में पैदा हुए मनुष्य बोलते थे और शब्द अर्थ का संयोग उनको पैदा होते ही क़ुदरती रीति से परमेश्वर की ओर से प्राप्त हुआ। यही प्राचीन ऋषियों का कहना है। वैशेषिक दर्शन के आविष्कर्ता कणाद ऋषि कहते हैं कि 'बुद्धिपूर्वा वाक् प्रकृतिर्वेदे' अर्थात् वेदवाणी की रचना परमेश्वर ने बुद्धिपूर्वक की है। इत्योमृशम् ॥

स्वर्गीय श्री० पण्डित रघुनन्दन शर्मा, साहित्यभूषण, लिखित

आर्य सभ्यता का आदर्श ग्रंथ

वैदिक सम्पत्ति

के विषय में विद्वानों की सम्मतियाँ।

श्री० स्वामी स्वतन्त्रानन्दजी महाराज, आचार्य, उपदेशक, महाविद्यालय, लाहौर, लिखते हैं—यह पुस्तक अत्यन्त उपयोगी है। वेद की अपौरुषेयता, वेद का स्वतःप्रमाण होना, वेद में इतिहास नहीं है, वेद के शब्द यौगिक हैं इत्यादि विषयों पर बड़ी उत्तमता से विचार किया है और मेरी सम्मति में इस विषय में लेखक को सफलता भी प्राप्त हुई है। सृष्टि-उत्पति, विकासवाद पर भी प्रकाश डाला है।.... मैं सामान्य रूप से प्रत्येक भारतीय से और विशेष रूप से वैदिक धर्मियों से प्रार्थना करता हूँ कि वह इस पुस्तक को अवश्य क्रय करें और पढ़ें। इस पुस्तक का प्रत्येक पुस्तकालय में होना अत्यन्त आवश्यक है। यदि ऐसा न हो सके तो प्रत्येक समाज में तो एक प्रति होनी ही चाहिये।

श्री० आचार्य रामदेवजी, गवर्नर, कन्यागुरुकुल, देहरादून, ता० २० मई १९३४ के "प्रकाश" में अपनी सम्मति प्रकाशित करते हुए कहते हैं—मैं प्रकाशक के इन विचारों के साथ पूर्णतया सहमत हूँ कि इसके लेखक के वैज्ञानिक, भौतिक, आध्यात्मिक, राजनैतिक, सामाजिक, प्राचीन तथा अर्वाचीन साहित्य, पुराने शास्त्र, भूगोल, खगोल, ज्योतिष, नानालिपिविज्ञान, तथा भाषा आदि अनेक विषयों का दिग्दर्शन इस पुस्तक ने हमें कराया है और भिन्न भिन्न विषयों पर लिखे गये अनेक पाश्चात्य तथा पूर्वीय विद्वानों के विविध ग्रंथों की विवेचना करके आर्य सिद्धान्तों को युक्ति और प्रमाणों से पुष्ट किया है।

इसमें विकास सिद्धान्त की समालोचना बड़ी उत्तम रीति से की गई है। योरोप और अमेरिका की वर्तमान वैज्ञानिक किन्तु भोगवाद सभ्यता के गुणदोष विवेचनापूर्वक युक्तियों द्वारा यह स्थापना की गयी है कि यद्यपि वर्तमान युरोपीयन सभ्यता ने समस्त पृथ्वी की प्राचीन सभ्यताओं को बदल दिया है और जहाँ तक हो सका है भौतिक उन्नति तथा बाह्य आडंबर द्वारा सारे विशाल संसार को ही युरोप बना डाला है, तथापि स्वयं युरोप अपनी इस उन्नति से संतुष्ट नहीं है। क्योंकि इस सभ्यता से उत्पन्न विलास, रोग, स्पर्धा और युद्धों से भयभीत होकर त्राहि त्राहि पुकार रहा है। सुख और शान्ति की खोज में आदिमकालीन वैदिक अवस्था की ओर दृष्टि लगाने लगा है, इस बात को बड़ी स्पष्ट रीति से स्थापित किया गया है।

वेदों की प्राचीनता स्थापित करते हुए, अर्वाचीन उदाहरण देकर जो वेदों में अनित्य इतिहास सिद्ध करने का अशक्य प्रयत्न किया करते हैं इसका खण्डन आपने बहुत सी युक्तियों द्वारा उत्तम प्रकार से किया है।··इस प्रकार अनेकानेक प्रमाणों से वेद में अनित्य इतिहास की स्थापना खण्डित की गई है। इसके अतिरिक्त प्राचीन आर्यों के कलाकौशल के ज्ञान के सम्बन्ध में नयी नयी खोज करके विद्वान् लेखक ने अपनी खोज सम्बन्धी योग्यता का बड़ा उत्तम परिचय दिया है।····

इसके बाद यज्ञ में पशुहिंसा का निषेध बड़ी बड़ी अकाट्य युक्तियों से किया गया है। वेद में आये हुए माँसयज्ञ सम्बन्धी द्रव्य के शब्दों का विवेचन बड़ी उत्तम रीति से प्रमाणों द्वारा किया है।····इसी तरह वेदों में भी ऐसे संदिग्ध द्व्यर्थक शब्दों का समाधान और स्पष्टीकरण परमात्मा ने भी कर दिया है····इसके अनेक उदाहरण इस पुस्तक में दिये हैं।

इसमें कोई संदेह नहीं कि··यह पुस्तक बड़ी ही उपयोगी और नयी खोज और उपयुक्त प्रमाणों से युक्त है। इसलिये हरएक आर्य पुरुष, आर्य उपदेशक, अध्यापक और व्याख्यानदाता के मनन करने और पास रखने योग्य यह पुस्तक है।

सभा समाजों में इसकी कथा करनी चाहिये ताकि जनता विद्वान् लेखक के परिश्रम से पर्याप्त लाभ उठा सके।"

श्री० पण्डित नरदेव शास्त्रीजी, वेदतीर्थ, महाविद्यालय, ज्वालापुर, यू. पी. लिखते हैं—"वैदिक सम्पत्ति" पुस्तक हमारे हाथ में तब पड़ी जब कि हम मसूरी में पर्वत यात्रा के निमित्त आये थे। जब पुस्तक हमारे पास आई तब हमने इसको अनवरत आठ दिन तक पढ़ा। हम निःसंकोच कह सकते हैं कि यह ग्रंथ 'यथा नाम तथा गुणाः' कोटि का है। कई प्रकरण तो इतने मनोरंजक हैं कि उनको बार बार पढ़ने पर भी तृप्ति नहीं होती। वस्तुतः ऐसे ही ग्रंथ वैदिक धर्म व आर्य संस्कृति की महत्ता को प्रसरित कर सकते हैं।....यह ग्रंथ व्यापक दृष्टि से पूर्ण गवेषणा के पश्चात् लिखा गया है, इसलिये संग्रह की वस्तु है। प्रत्येक हिंदी पुस्तकालय व धर्ममंदिर में रखने की वस्तु है।

श्री० स्वामी व्रतानन्दजी महाराज, आचार्य, श्री गुरुकुल, चित्तौड़गढ़, राजपुताना, लिखते हैं—"वैदिक सम्पत्ति" नाम की पुस्तक अपने विषय की अद्वितीय पुस्तक है। आर्यसमाज के साहित्य में इसकी समानता की अन्य पुस्तक आज तक नहीं लिखी गई। इस पुस्तक का क्रम ऐसा रोचक है कि पढ़ने में रुचि उत्तरोत्तर बढ़ती ही जाती है। इस पुस्तक में यह सफलतापूर्वक सिद्ध किया गया है कि सुख की प्राप्ति के लिये वर्तमान सभ्य संसार ने जिन उपायों का अवलम्बन किया है वे घातक हैं। उनके स्थान पर संसार जब वैदिक सभ्यता का आश्रय लेगा तभी उसे सुख प्राप्त होगा।

इस पुस्तक का वेदों की उपेक्षा नामक तृतीयखंड वैदिक साहित्य नाम से प्रचलित उपनिषदों आदि का कितना अंश वैदिक है इस बात में निर्णय के लिये अत्यन्त महत्त्व पूर्ण है। महर्षि दयानंदजी ने जिन सिद्धान्तों को सत्यार्थप्रकाश तथा ऋग्वेदादि भाष्यभूमिका में सूत्र रूप से प्रकट किया है उनकी व्याख्या जानने के लिये यह पुस्तक पढ़ना परम आवश्यक है। मेरा विश्वास है कि इस पुस्तक को पढ़ने के पश्चात् कोई भी सत्यान्वेषक वेद और वैदिक सभ्यता का प्रेमी बने बिना नहीं रह सकता। यह पुस्तक संसार के लिये इतनी उपयोगी है कि इसका अनुवाद संसार की सब भाषाओं में यथाशक्ति शीघ्र ही हो जाना चाहिये।

श्री० पं० देवराजजी, विद्यावाचस्पति, जयपुर, लिखते हैं—बहुत दिन हुए आपकी भेजी हुई "वैदिक सम्पत्ति" नाम की पुस्तक मुझे संमत्यर्थ प्राप्त हुई थी। मैने प्रायः सारी पुस्तक को पढ़ डाला। पुस्तक में वैदिक सिद्धान्तों का इतना अच्छा निरूपण किया गया है कि जितनी प्रशंसा की जाय उतनी थोड़ी है। ····इस पुस्तक में वैदिक सिद्धान्तों के पुष्टि के प्रकार को देखकर हम परमेश्वर से प्रार्थना करते हैं कि इस पुस्तक का हिंदुओं के घर घर में प्रचार हो।

श्री० पं० भगवद्दत्तजी, *M. A.*, वैदिक रिसर्च इन्स्टीट्यूट, मोडेल टाऊन, लिखते हैं—"वैदिक सम्पत्ति" पुस्तक प्राप्त हुआ। तदर्थ अनेक धन्यवाद। मैने पहिले भी किसी से मंगा कर इसका यत्र तत्र पाठ किया था। अब प्रायः सारा ही ग्रंथ देख गया हूं। ग्रंथ अत्यन्त उपादेय और भूरि परिश्रम का फल है। अनेक विषयों पर ग्रंथकार का लेख मार्मिक है। ग्रंथकार मेरे मित्र थे। उनकी स्मृति मेरे हृदय में अन्त तक रहेगी। ········ भाषा-विज्ञान पर उनका लेख बहुत विचारपूर्ण है। ····पुस्तक मार्मिक है। मैं इसकी जितनी प्रशंसा करूं थोड़ी है। मैंने स्वयं इससे कई बातों का लाभ उठाया है। ········

मासिक पत्र "वैदिक विज्ञान" (अप्रैल सन् १९३४) की राय इस प्रकार है—पण्डित रघुनन्दन शर्मा हिंदी-साहित्य के क्षेत्र में अपरिचित व्यक्ति नहीं है। आप ने अक्षरविज्ञान पुस्तक लिखकर नागरी अक्षरों की प्रकृतिसिद्ध रचना को बहुत उत्तम प्रतिभा से दर्शाया था। आपकी उसी प्रतिभा का दूसरा चमत्कार "वैदिक सम्पत्ति" है।

आपने इस पुस्तक में प्राय: वेद के सम्बन्ध में उठने वाली सभी समस्याओं पर अच्छा प्रकाश डाला है। वेद के कालनिर्णय, वेद की रचना का काल, वेद में इतिहास की सत्ता, वैदिक संस्कृति, तथा वेद पर योरोपीयनों के आक्षेप और वेदों में उच्च सभ्यता के दिग्दर्शन आदि नाना विषयों पर आपने बड़ी ही सुन्दर ललित

और रुचिकर भाषा में विवेचन किया है। आप की लेखनशैली विस्तृत और स्वतंत्र है। इसके बीच में से गुज़रने वाला पाठक लेखक के मंतव्यों से प्रभावित हुए विना नहीं रह सकता। वेद की बहुत ही समस्याएँ स्पष्ट हो जाती हैं। ····स्वाध्यायप्रेमी के लिये तो यह एक उत्तम और विशद मानसिक भोजन है।

"आर्यप्रकाश" (९ सितम्बर १९३४) की सम्मति इस प्रकार है—साहित्य भूषण पण्डित रघुनन्दन शर्मा ना अनमोला परिश्रम ना परिणाम स्वरूप "वैदिक सम्पत्ति" विद्वानों ने माटे अमूल्य गरवो ग्रंथ छे, ···· विद्वान् पाठक वर्ग ना हृदयागार मां एमनुं स्थान अने श्रम हमेशा ने माटे स्थायी ज रहेशे.

आर्य प्रजाए आ ग्रंथनी एक-एक नक़ल पोताना घर मां अवश्य राखवी जोइये. कपड़ां अथवा पान सोपारी नो खर्च कमी करी वैदिक संस्कृति प्रत्ये प्रेम दर्शावनारी व्यक्तिये आ पुस्तक ने पोता ना घर मां वसाविने पोताने प्रेममूर्त बनाववो जोइये.

भाषाशास्त्रनो अभ्यासक होय, वेदनो अभ्यासी होय, पुरातत्त्वनो अभ्यासु होय, विश्वासवादनो अभ्यासी होय, प्राणिशास्त्रनो अभ्यासक होय के इतिहास शास्त्रनो शोधक होय अर्थात् विश्वना हर कोई विषयनुँ ज्ञान प्राप्त करवानी इच्छावाळाने माटे आ ग्रंथ बहु उपकारक थई शकशे.

'वैदिक धर्म' मासिक की राय—यदि इस समय तक के संपूर्ण ग्रंथ भण्डार में किस एक ग्रंथ में संपूर्ण वैदिक सभ्यता का आदर्श बताया गया है, ऐसा कोई प्रश्न करे, तो हम उस प्रश्न का निःसंकोच उत्तर ऐसा दे सकते हैं कि श्री पण्डित रघुनन्दन शर्मा रचित और श्री सेठ शूरजी वल्लभदास द्वारा प्रकाशित "वैदिक सम्पत्ति" नामक पुस्तक में संपूर्ण वैदिक सभ्यता का आदर्श बताया है। पाठक इस एक ही पुस्तक का उत्तम पाठ करेंगे तो उनको वैदिक सभ्यता का आदर्श स्पष्ट रीति से मिल जायगा और उनको इस सभ्यता की उच्चता के विषय में किसी प्रकार संदेह नहीं रहेगा।

इस पुस्तक से आप के पास का वैदिकी सम्पत्ति का ख़ज़ाना अनन्त गुणा बढ़ जायगा और आप अपने आप को वैदिक सम्पत्ति से युक्त पायेंगे। यह इस पुस्तक का महत्त्व है।

वैसे तो वैदिक विषय पर अनेक पुस्तक लिखे गये हैं, परन्तु इस पुस्तक में पृष्ठ-पृष्ठ पर और पंक्ति-पंक्ति में जैसी वैदिक सम्पत्ति भर-भर कर रख दी है, वैसी पुस्तक हमने इस समय तक नहीं देखी।

आपके सामने नास्तिकवादी, भौतिकवादी, विकासवादी तथा अन्यान्य आधुनिक विवाद स्वीकार करने वाले अनेक लोग आते हैं, वे आप से अपने अपने अवैदिक वादों का पुरस्कार करते हुए वार्तालाप करना चाहते हैं, कई प्रसंगों में आपको चुप रहना पड़ता होगा। यदि आप एक दो बार इस "वैदिक सम्पत्ति" को पढ़ेंगे, तो आप उन सब शंकाओं का मुंहतोड़ उत्तर दे सकते हैं।

इस ग्रंथ में वेद, उपनिषद्, स्मृति, दर्शन, इतिहास, पुराण आदि सब ग्रंथों में वर्णित सत्य–धर्म–सिद्धान्तों का ऐसा सरल और सुबोध प्रतिपादन किया है कि उसको पढ़ने से आर्य संस्कृति की उच्चता का पता ठीक ठीक प्रकार लग सकता है।

इस अमूल्य ग्रंथ में प्रथम के दो विभागों में वेदों की प्राचीनता, अपौरुषेयता और श्रेष्ठता की सिद्धि अनेक प्रमाणों से की है। वेद का प्रत्येक वर्ण अपना-अपना स्वाभाविक अर्थ रखता है, यह ग्रंथकार का सिद्धान्त है और 'अक्षर-विज्ञान' नामक पुस्तक में इसकी सिद्धता की गई है। यह एक महत्त्वपूर्ण विषय है और उसका संक्षेप से विवरण करना भी यहां असंभव है, परन्तु यह बात इस ग्रंथ के प्रथम दो भाग पढ़ने से समझ में आ जायगी, और अपनी आर्य सभ्यता की विशेषता भी ध्यान में आ जायगी।

यद्यपि द्वितीय खण्ड में 'वेदों की अपौरुषेयता' बताने का मुख्य उद्देश्य है, तथापि ईश्वर, चैतन्य, तुलनात्मक शरीर-रचना-शास्त्र, जन्तुशास्त्र, मानव जाति के मूल पुरुष, आदि सृष्टि का स्थान, आदिभाषा, वैदिक भाषा, आदि भाषा का संस्कृत, जन्द, फ़ारसी, अंग्रेज़ी, मिश्र, अरबी, जापानी, द्राविड़ आदि भाषाओं से सम्बन्ध, वैदिक भाषा की अपरिवर्तनशीलता, अक्षरार्थ और लिपि इत्यादि

प्रकरण बड़े ही उद्बोधक हैं। यज्ञों में आयुर्वेद, ज्योतिष, भूगोल, वास्तु, पदार्थविज्ञान, पशुपालन, सार्वभौम राज्य-शासन आदि सम्पूर्ण शास्त्रों का सम्बन्ध कैसा है, यह सुयोग्य प्रमाणों सहित इस द्वितीय खंड में पाठक देख सकते हैं।

इस अपूर्व ग्रंथ का तृतीय विभाग बहुत ही मनन करके पढ़ने योग्य है। इसमें 'वेदों की उपेक्षा' होने से मानव जाति का अधःपात होने का स्वरूप स्पष्ट किया है। आर्यों के विदेश गमन का व्यापक स्वरूप बतलाकर एशिया, यूरप, अमरीका और आस्ट्रेलिया में दिग्विजयी आर्यों के प्रवेश कैसे हो गये, इसका मनोरम वर्णन यहां पाठक देख सकते हैं। पश्चात् विदेशियों का भारत में आगमन कैसा हुआ, इसका दुःखदायी वर्णन है। ऐतिहासिक दृष्टि से यह सब पाठक देखेंगे तो उनको बड़ा बोध प्राप्त हो सकता है। इसमें आर्य शास्त्रों के साथ जो ईसाई और मुसलमान आदिकों के शास्त्रों की तुलना की है, वह विशेष पढ़ने योग्य है।

चतुर्थ खण्ड में 'वेदों की शिक्षा' कही है। इसलिये यह वैदिक सम्पत्ति का उज्ज्वल रत्न कहा जाय तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी। वेद ब्राह्मण आदि में जो गृहस्थाश्रम, सदाचार, धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष आदि की व्यवस्था कही है, वेद के अनुसार जो सब प्रकार की धर्ममर्यादा है, उन सब का यथायोग्य वर्णन इस विभाग में है। इस विभाग का हर एक पृष्ठ पढ़ने योग्य है और मननपूर्वक स्वाध्याय करने योग्य है।

आगे ६० पृष्ठों का उपसंहार है, जिसमें अच्छी बातों का पुनः संक्षेप से कथन किया है और बहुत सी नवीन बातें भी हैं। इस ग्रंथ का संक्षेप से स्वरूप कथन करना अशक्य है, क्योंकि इस ग्रंथ में पहिले ही सब बातें संक्षेप से ही कही हैं। इतनी बातों का और इतने उपदेशों का संग्रह इस ग्रंथ में है कि इनका संक्षेप कैसे किया जा सकता है? पाठक कोई पृष्ठ खोलकर देखेंगे तो उनको वही नवीन बात ऐसे ज़ोरदार और स्पष्ट शब्दों में कही मिलेगी कि जिसके ज्ञान से उनके मन में आर्य धर्म की श्रेष्ठता की स्थापना निःसन्देह हो जायगी।

ऐसे अपूर्व ग्रंथ का हम स्वागत करते हैं और प्रत्येक वैदिक धर्मी से हम सानुरोध प्रार्थना करते हैं कि वह इस ग्रंथ को अपने घर में रखे और इस ग्रंथ का पाठ प्रत्येक भारतवासी के घर में होता रहे ।

धर्मदेव विद्यावाचस्पति बङ्गलौर, 'सार्वदेशिक' देहली, में अपनी राय इस प्रकार प्रकट करते हैं—यह ग्रंथरत्न श्रीमद्दयानन्द अर्ध शताब्दी अजमेर के अवसर पर प्रकाशित कराया गया था। इसमें ४ खण्ड हैं जिन में सुयोग्य लेखक महोदय ने क्रमशः वेदों की उपेक्षा, वेदों की शिक्षा इन विषयों का, भूगोल, इतिहास, ज्योतिष, भूगर्भशास्त्र, विज्ञानशास्त्र, इत्यादि की सहायता से बड़ा उत्तम विवेचन किया है। वेदों में इतिहास है, इस प्रश्न का बड़ी योग्यता से विद्वान लेखक महोदय ने खण्डन किया है। ज्योतिष द्वारा पाश्चात्य तथा लोकमान्य तिलकादि जिन भारतीय विद्वानों ने वेदों के समय निर्धारण का यत्न किया है उनके विचारों की बड़ी विद्वत्ता से समालोचना करते हुये सुयोग्य लेखक ने दिखाया है कि उनका मत ठीक नहीं है तथा वेद नित्य और अपौरुषेय हैं। विकासवाद की भी विस्तृत आलोचना करते हुये विद्वान लेखक ने उस को अमान्य सिद्ध किया है। वैदिक भाषा सब भाषाओं की जननी वा मूल है, इस बात को सिद्ध करने के लिये सुयोग्य लेखक महोदय ने जन्द, फारसी, अंग्रेज़ी, मिश्र भाषा, अरबी, चीनी, अफ्रीक़ा की स्वाहिली भाषा, अमेरीकन भाषा आदि के अनेक समतासूचक शब्दों के उदाहरण दिए हैं। कोई भी निष्पक्ष पाठक लेखक की विद्वत्ता, गम्भीरता और परिश्रम पर मुग्ध हुये बिना नहीं रह सकता। वैदिक सिद्धान्तों पर इस ग्रन्थ रत्न में बहुत ही उत्तम प्रकाश डाला गया है जिससे स्वाध्यायशील सज्जनों के लिये यह ग्रन्थ बहुत ही अधिक उपयोगी होगा इस में संदेह नहीं हो सकता। वैदिक धर्म और सभ्यता सम्बन्धी अनेक आवश्यक विषयों का यदि इसे विश्वकोष कहा जाए तो भी मेरे विचार में कोई अत्युक्ति न होगी। चतुर्थ खण्ड के वैदिक शिक्षा सम्बन्धी प्रकरण में जीवनोपयोगी विषयों पर वेद मन्त्रों का भी अर्थसहित अच्छा संग्रह किया गया है। ऐसे उत्तम ग्रन्थ को प्रकाशित करके श्री सेठ शूरजी वल्लभदासजी ने आर्य जनता—विशेषतः स्वाध्यायशील विद्वानमण्डली—का बड़ा भारी

उपकार किया है। प्रत्येक विषय का बड़ी योग्यता से इस ग्रन्थ में सप्रमाण विचार किया गया है। प्रमाणों और युक्तियों से विषयों को खूब पुष्ट किया गया है। काग़ज़, छपाई, आकार, प्रकारादि सब उत्तम हैं। इस पुस्तक की एक-एक प्रति प्रत्येक उत्तम पुस्तकालय में अवश्य रहनी चाहिये जिससे स्वाध्यायशील निर्धन सज्जन भी लाभ उठा सकें।

अर्जुन (ता० ४ अक्टूबर १९३४) की सम्मति—लेखक ने पुस्तक में यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि यूरोप में भौतिकवाद वहाँ की जनता को सुखी और संतुष्ट नहीं रख सका, इसीलिये आज हमें कई स्थानों पर–प्रकृति की ओर दौड़ो–की आवाज़ सुनाई दे रही है। वर्तमान सभ्यता यूरोप के लिए भी इतनी असह्य हो गई है कि वही उसे लेकर डूब सकती है। संसार की समस्यायें अधिकाधिक उलझती जाती हैं। इसका उपाय केवल आर्यों के त्यागवाद की सभ्यता में है।

वैदिक संस्कृति का विस्तृत परिचय देने से पूर्व लेखक ने प्रथम दो खण्डों में यह सिद्ध करने की कोशिश की है कि वेद अत्यन्त प्राचीन और आदि सृष्टि में बने हुए हैं। लेखक की प्रतिपादनशैली उत्तम और विद्वतापूर्ण है। आजकल के प्रचलित मतों का योग्यता-पूर्वक निराकरण किया गया है।

इसी प्रसंग में डारविन के विकासवाद पर ७५ पृष्ठों में विचार किया है और अनेक युक्तियों से उसे भ्रांत ठहराने का यत्न किया है। बहुत सम्भव है कि विकासवाद के प्रेमी इससे मतभेद रखें परन्तु हम उनको यह सलाह अवश्य देंगे कि लेखक के लेख से उसके दूसरे पहलू पर भी अच्छा प्रकाश पड़ता है, जिसे पढ़ने से लाभ ही होगा। आगे आदि सृष्टि में भाषाओं के विकास आदि अनेक गम्भीर विषयों पर लेखक ने ऐसा सुन्दर प्रकाश डाला है कि लेखक की प्रकाण्ड विद्वत्ता की प्रशंसा किये बिना नहीं रहा जा सकता।

तीसरा खण्ड ऐतिहासिक है, जिसमें बाहर से आनेवाले विदेशियों के संसर्ग से आर्य संस्कृति में जो हेरफेर हुए उनका ज़िक्र है। प्राचीन शास्त्रों में कहाँ कहाँ परिवर्तन किये गये, इस सम्बन्ध में विद्वान लेखक ने कम प्रकाश नहीं डाला।

चतुर्थ खण्ड में वेद और उसकी शाखाओं पर विचार करने के अनन्तर वैदिक

संस्कृति का आदर्श बताने की चेष्टा की गई है। वर्णाश्रम व्यवस्था, त्यागवाद का आदर्श और मोक्ष का परम उद्देश्य आदि पर जो विचार किया गया है, वह केवल धर्मशास्त्रीय चर्चा करने वाले के लिये ही नहीं, परन्तु इतिहास के विद्यार्थी के लिये भी उपयोगी है।

सम्पूर्ण ग्रन्थ में लेखक की शैली इतनी विद्वतापूर्ण है कि लेखक के बहुश्रुत, बहुज्ञ और मननशील होने में कोई सन्देह नहीं रहता। लेखक आर्य सामाजिक विद्वान् हैं। परन्तु उसमें उनका सा हट नहीं है। वे कहते हैं कि वेदों से तार, रेलगाड़ी निकालना व्यर्थ है, शब्दों की खेंचातानी है। वैदिक सभ्यता त्याग की सभ्यता थी, उनमें वर्तमान भौतिक उन्नति को बहुत महत्व कभी नहीं दिया गया।

हम अन्त में प्रत्येक आर्य-सामाजिक विद्वान्, शास्त्रीय चर्चा के प्रेमी और प्राचीन भारतीय इतिहास के विद्यार्थी से इस अमूल्य ग्रन्थ को पढ़ने का अवश्य अनुरोध करेंगे।

अन्य अनेकानेक महानुभावों ने
इस पुस्तक की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की है।
मूल्य ६) रु०, डाकखर्च १।) रु०
मनीआर्डर से ७) रु०, वी. पी. से ७।।=) रु०, विदेश के लिये ८) रु०

प्राप्तिस्थान—

१ सेठ शूरजी वल्लभदास वर्मा, कच्छ केसल, सेन्डहर्स्ट ब्रिज, बंबई ४।
२ मेसर्स शूरजी वल्लभदास एण्ड कम्पनी, बोम्बे म्युचुअल बिल्डिंग, हॉर्नबी रोड, बंबई १।
३ स्वाध्यायमंडल, औंध, जिला सातारा।